

सहजानंद शास्त्रमाला

मोक्षशास्त्र प्रवचन

२१ वां भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ‘‘सहजानन्द’’ महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णोंजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक 'मोक्षशास्त्र प्रवचन २१ वां भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णों की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें मोक्षशास्त्र अध्याय ८ के सूत्र ३ से सूत्र २६ तक के प्रवचन संकलित हैं।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णोंजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishastra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित करना चाहता है, तो वह यह कम्प्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल <http://is.gd/varniji> पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हौरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु डॉ. उदयजी मेहता सीएटल अमेरिका के द्वारा रु. 1000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी राहिंज, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती मनोरमाजी जैन, गांधीनगर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छावड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto>Email-vikasnd@gmail.com)

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णों‘सहजानन्द’ महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्वष्टा आत्मराम॥१॥
 मैं वह हूँ जो हैं भगवान्, जो मैं हूँ वह हैं भगवान्।
 अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।
 मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
 किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।
 सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।।
 निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।
 जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
 राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।
 होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।।
 दूर हटो परकृत परिणाम, ‘सहजानन्द’ रहूँ अभिराम।।
 अहिंसा परमोर्धम

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ॥१॥
 हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।।
 हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानन्द०॥२॥
 हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।।
 पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०॥३॥
 आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।।
 निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०॥४॥

Contents

प्रकाशकीय.....	2
आत्मकीर्तन.....	3
आत्म रमण	3
सूत्र 8-3	7
सूत्र 8-4	9
सूत्र 8-5	14
सूत्र 8-6	14
सूत्र 8-7	18
सूत्र 8-8	20
सूत्र 8-9	21
सूत्र 8-10	25
सूत्र 8-11	26
सूत्र 8-12	38
सूत्र 8-13	38
सूत्र 8-14	39
सूत्र 8-15	41
सूत्र 8-16	42
सूत्र 8-17	43
सूत्र 8-18	43
सूत्र 8-19	44
सूत्र 8-20	44
सूत्र 8-21	44
सूत्र 8-22	45
सूत्र 8-23	47
सूत्र 8-24	52
सूत्र 8-25	54
सूत्र 8-26	55

मोक्षशास्त्र प्रवचन २१ वां भाग

(२३१) सूत्र में कर्मणः योग्यान् पदों का समाप्ति न कर अलग कहने का सैद्धान्तिक रहस्य—इस सूत्र में तीसरा और चौथा पद है कर्मणः योग्यान् अर्थात् कर्म के योग्य । जो कार्माणवर्गणायें कर्मरूप हो सकती हैं उनको बांधता है यह जीव—यह अर्थ इसमें विवक्षित हैं । यह कर्मणः योग्यान् ऐसे दो पद अलग-अलग रखे गए हैं, उनका समाप्ति नहीं किया गया । इनका समाप्ति भी हो सकता था—कर्मयोग्यान् और अर्थ भी वही निकलता है । कर्म के योग्य और समाप्ति करने से सूत्र में लाघव भी होता फिर भी समाप्ति नहीं किया गया और पृथक् विभक्ति का उच्चारण किया गया । इसका कारण यह है कि कर्मणः शब्द से अन्य वाक्य का भी ज्ञान होता है । कैसे? कर्मणः शब्द से पहले के पदों का सम्बन्ध जोड़ा जाये तो एक वाक्य निकलता है, और कर्म के उत्तर में कहे गए शब्दों से सम्बन्ध जोड़ा जाये तो दूसरा वाक्य निकलता है । प्रथम वाक्य क्या है कि कर्म के कारण जीव सकपाय होता है । यहाँ कर्मणः शब्द पंचमी विभक्ति में माना जायेगा जिससे हेतु अर्थ साबित होता है । कर्म के कारण से जीव सकपाय होता है । कर्मरहित जीव के कपाय का लेप नहीं होता, इस कारण जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध है आदिक कई बातें प्रथम वाक्य से सिद्ध होती हैं । द्वितीय वाक्य से बनता है कि कर्म के योग्य पुद्गल को ग्रहण करता है । यहाँ कर्मणः शब्द षष्ठी विभक्ति में प्रयुक्त होता है । दोनों वाक्यों को सम्मिलित कर इस सूत्र का विस्तार में यह अर्थ होगा कि कर्म के कारण सकपायपना होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है । वह बंध कहलाता है ।

(२३२) सूत्रोक्त पुद्गल शब्द से कर्मों की पौद्गलिकता की सिद्धि—इस सूत्र में ५ वां पद है पुद्गलान् । कर्म पुद्गलात्मक होता है, यह विशेषता बताने के लिए पुद्गल शब्द को ग्रहण किया गया है । कार्माण वर्गणायें और जो कर्मरूप परिणम गई वे सब पौद्गलिक हैं । शंका—कर्म पौद्गलिक है यह बात असिद्ध मालूम पड़ती है क्योंकि कर्म तो आत्मा का गुण है और आत्मा अमूर्त है तो कर्म भी अमूर्त जीव जैसे ही होना चाहिए । वे पौद्गलिक कैसे कहलायेंगे? उत्तर—कर्म पौद्गलिक हैं, इसका कारण यह है कि कर्म यदि अमूर्त होता तो उसके द्वारा आत्मा का अनुग्रह और घात सम्भव न था । दों पदार्थ अमूर्त ही अमूर्त हों तो एक के द्वारा दूसरे में बाधा आ जाये या दूसरे का विघात हो जाये—यह बात नहीं बनती । जैसे कि आकाश अमूर्त है और दिशा आदिक भी अमूर्त हैं । तो अमूर्त आकाश दिशा आदिक का न अनुग्रह करता है, न विघात करता है । तो इसी प्रकार कर्म ये अमूर्त होते तो अमूर्त आत्मा का न अनुग्रह का कारण बन सकता था, न विघात का कारण बन सकता था । इस अनुमान प्रमाण से यह सिद्ध है कि कर्म को अमूर्त आत्मा के विरुद्ध होना चाहिये अर्थात् मूर्त होना चाहिए और जो मूर्त है सो पौद्गलिक है ।

(२३३) सूत्र में ‘आदत्ते’ पद के ग्रहण से एकक्षेत्रावगाह में बंधानुभवन की प्रसिद्धि—इस सूत्र में छठवाँ पद है आदत्ते अर्थात् ग्रहण करता है । जिस बंध का इस अध्याय में वर्णन चलेगा उस बंध को यह जीव अनुभवता है, क्योंकि कपाय सहित है । जो कपायसहित जीव है वह बंध को अनुभवता है, ग्रहण करता है । आदत्त का ग्रहण करना तो स्पष्ट अर्थ है ही मगर नवीन कर्मबंध भी करता है, और वर्तमान में बंधन का अनुभव भी करता है । ग्रहण करता है, बंध का अनुभव करता है इसका तात्पर्य यह है कि मिथ्यादर्शन आदिक के अभिप्राय से

स्थिर हुए, गीले हुए, कषायिक हुए आत्मा में चारों ओर से मन, वचन, काय के कर्म का सूक्ष्म अनन्त प्रदेशी एक क्षेत्र में रहने वाले कर्म योग्य पुद्गल का बंध होता है । जिन कार्मणवर्गणावों का बंध होता है वे कार्मणवर्गणायें इस आत्मा के एक क्षेत्र में पड़ी हुई हैं, सो जैसे किसी बर्तन में अनेक प्रकार के रस वाले बीज फल फूल आदिक रख दिए जायें तो उनका मदिरारूप से परिणमन हो जाता है इसी प्रकार आत्मा में ही स्थित पुद्गल का योग और कषाय से कर्मरूप परिणमन हो जाता है । उस बनी हुई मदिरा को कहीं बाहर से नहीं आना पड़ा किन्तु उस ही बर्तन में रहने वाले पदार्थ ही मदिरारूप परिणम गए । ऐसे ही कर्म बनने के लिए उन कर्म पुद्गलों को बाहर से नहीं आना पड़ा किन्तु विस्तोपचय के रूप में इस जीव के प्रदेशों में ही एक क्षेत्रावगाही जो कार्मणवर्गणा स्कंध रह रहा था वह ही योग कषाय के कारण कर्मरूप परिणम गया है ।

(२३४) **सूत्रोक्त सः पद से बन्धस्वरूप का अवधारण—**कार्मणवर्गणावों का कर्मरूप परिणम जाना इस ही का नाम बंध है । बंध अन्य कुछ नहीं है । इसकी सूचना देने वाले इस सूत्र में सः शब्द कहा गया है मायने वही बंध । कुछ लोग गुणगुणी के बंध को बंध कहते हैं अर्थात् अदृष्ट नाम का गुण है । उसका आत्मा नाम के गुणी में समवाय सम्बन्ध हो जाता है । इस प्रकार से उसे बंधन माना । आत्मा के अदृष्ट का आत्मा में समवाय हो जाना बंध है, इस प्रकार की प्ररूपणा करने वाले दार्शनिकों के यहाँ गुणगुणी बंध माने जाने पर मुक्ति का अभाव हो जायेगा । कैसे कि अदृष्ट को तो मान लिया गुण और आत्मा है अदृष्टवान गुणी, तो गुण और गुणी कभी अलग नहीं होते । गुणी अपने गुण स्वभाव को कभी छोड़ता नहीं है । यदि गुणी अपने स्वभाव को छोड़ बैठे तो जब स्वभाव ही कुछ न रहा तो गुण ही क्या रहा, पदार्थ ही क्या रहा? तो जब आत्मा अदृष्ट को छोड़ ही न सकेगा तो मुक्ति कहाँ से होगी? जब तक अदृष्टि की प्रेरणा है तब तक जीव संसारी है, इस कारण गुणगुणी के बंध को बंध नहीं समझना किन्तु योग और कषाय के कारण जो आत्मा के एकक्षेत्रावगाह में रहने वाली कार्मणवर्गणायें कर्मरूप परिणम जाती हैं वह है बंध ।

(२३५) **बंध शब्द का करणसाधन, कर्मसाधन, कर्तृसाधन व भावसाधन में अर्थ—**यह बंध शब्द करणादिसाधनरूप है । जब करण साधन की विवक्षा है तो निरुक्ति होगी बध्यते अनेन आत्मा इति बन्धः अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा बँध जाये उसे बंध कहते हैं । इस विवक्षा में मिथ्यादर्शन आदिक को बंध कहा जायेगा । मिथ्यादर्शन आदिक जो सूत्र में कहे गए हैं वे बंध के कारण बताये हैं, फिर भी जो मिथ्यादर्शन अविरति आदिक भाव बन रहा है यह पूर्व में बांधे हुए कर्म के उदय के निमित्त से बन रहा है और जिस समय मिथ्यात्वादिक भाव बन रहा है उस समय आत्मा परतंत्र है । सो स्वयं बंधनरूप है अथवा कार्यरूप से आत्मा को परतंत्र करने के कारण यह बंध कहा जाता है । मिथ्यादर्शनभाव होने से वर्तमान में बन्धन और नवीन कर्म का बंधन होने से आगे भी बंधन रहेगा । जब बंध शब्द को कर्मसाधन की विवक्षा से कहा जायेगा तब निरुक्ति होगी—बध्यते इति बन्धः अर्थात् मिथ्यादर्शन आदिक भावों से तो इस समय बंध ही रहा है और नवीन द्रव्यकर्म भी बंध रहा है, इस प्रकार मिथ्यादर्शन आदिक बंध के कारण भी हैं और बंधरूप भी हैं । बंध शब्द का जब कर्तृसाधन की अपेक्षा से अर्थ किया जाये तो निरुक्ति होगी—बध्नाति इति बंधः, जो बाँधे, आत्मशक्ति का प्रतिबंध करे वह बंध कहलाता है । आत्मशक्ति क्या है? ज्ञान, दर्शन, अव्यावाध, अनाम, अगोत्र, अन्तराय, चारित्र, आनन्द इन सब आत्मशक्तियों

का जो प्रतिबंध करता है, रोकता है, प्रकट नहीं होने देता वह बंध कहलाता है। वस्तुस्वरूप की दृष्टि से कर्म यद्यपि आत्मा के किसी भी परिणमन को नहीं करता, चाहे वह शक्ति के रोकने रूप हो तथापि उन शक्तियों के रुकने में प्रकट न होने में निमित्त तो कर्मविपाक है, सो निमित्त दृष्टि की प्रधानता से यहां कर्तृसाधन बन जाता है और तब जैसे कि उपचार भाषा में कहते हैं, यह कहा जायेगा कि ज्ञानदर्शन आदिक आत्मशक्तियों का जो प्रतिबंध करे सो बंध कहलाता है। तो मिथ्यादर्शन आदिक भाव इन सब शक्तियों का प्रतिबंध करता ही है इसलिए वह बंध है और नवीन बंध का कारणरूप भी है। जिस समय बंध शब्द का अर्थ भावसाधन में किया जाये उस समय निरुक्ति होगी बंधन बंधः, बंधन को बंध कहते हैं, बंधन अर्थात् परतंत्रता। भाव बंधन में जैसे ज्ञान ही आत्मा है, जो जानना है सो आत्मा है, यहाँ अभेद विवक्षा से एक समान वृत्ति बन जाती है, इसी प्रकार भावसाधन की विवक्षा में बंधन को बंध कहते हैं।

(२३६) संसारी जीवों में कर्म का उपचय और अपचय—इन संसारी जीवों के हो क्या रहा है कि पहले बंधे हुए कर्म तो उदय में आकर खिरते जाते हैं और नवीन कर्म बँधते जाते हैं। जैसे कि भंडार से पुराने धान निकाल लिए जाते हैं और नये धान भर दिए जाते हैं, ऐसे ही अनादि कार्माण शरीररूप भंडार में कर्मों का आना जाना होता रहता है। वास्तव में कर्म कर्मशरीर के साथ बनता है, उन्हीं के साथ रहता है इसलिए भंडार कार्माण शरीर ही कहा गया है। तो इस कार्माण शरीर में जो पहले आये हुए कर्म हैं वे तो फल देकर झङ्ग जाते हैं और नवीन कर्म आ जाते हैं, इस प्रकार इस कार्माण शरीर में कर्म का हटना और आना अर्थात् उपचय और अपचय ये बराबर चलते रहते हैं? यहाँ जिज्ञासा होती है कि क्या ये बंध एक रूप हैं अथवा इनके अनेक प्रकार हैं? इस जिज्ञासा के समाधान के लिए सूत्र कहते हैं।

सूत्र 8-3

प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः ॥८-३ ॥

(२३७) चार प्रकार के बन्ध का निर्देश—प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभव बंध और प्रदेशबन्ध ये चार प्रकार के बंध होते हैं। कर्मों में प्रकृति का पड़ना कि यह कर्मवर्गणा समूह ज्ञान का आवरण करेगा, यह दर्शन का आवरण करेगा आदिक रूप से बंधे हुए कर्मों में प्रकृति का नियत हो जाना प्रकृतिबंध कहलाता है, अर्थात् उन कार्माणवर्गणाओं में प्रकृतिपने का परिणमन होना प्रकृतिबंध है। स्थितिबंध—बद्ध कार्माणवर्गणाओं में स्थिति का पड़ना कि यह कर्मसमूह इतने काल तक आत्मा के साथ रहेगा इस प्रकार की स्थिति के बन्धने का नाम है स्थितिबन्ध। अनुभवबन्ध अर्थात् अनुभागबन्ध—बद्ध कर्मों में अनुभाग का पड़ना कि यह कर्मसमूह इतनी श्रेणी का फल देगा, ऐसा अनुभाग का बँधना अनुभागबन्ध कहलाता है। प्रदेशबन्ध—प्रदेश के मायने परमाणु है। कर्मपरमाणु का बन्धना प्रदेशबन्ध कहलाता है। ये चारों बन्ध एक साथ ही होते हैं। जिस समय योग और कषाय का निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणमती हैं उस ही समय वह इन चार रूपों में परिणमता है। प्रकृति शब्द में प्र उपसर्ग है और कृ जिसका मूल रूप है झुकृज् करणे कृ धातु है और उसमें इवितन् प्रत्यय लगा है, जिसका व्युत्पत्ति अर्थ हुआ ज्ञानावरणादि रूप से अर्थात् अर्थ का बोध न हो सके इस रूप से कर्म का

परिणमना प्रकृतिबन्ध है। इसकी निरुक्ति है—प्रक्रियते इति प्रकृतिः। ज्ञानावरणादिक रूप से, अर्थात् पदार्थ का ज्ञान न होना इस रूप से जो कार्मणवर्गणा कर्मरूप की जाती है वह प्रकृति है। स्थिति शब्द षा स्वगतिनिवृत्तौ धातु से बना है। स्थिति का अर्थ है स्थान। अथ स्थान अर्थात् ठहरे रहना। जितने काल तक कर्म आत्मा में ठहरता है उतने काल उसकी स्थिति कहलाती है। अनुभव शब्द में अनु उपसर्ग है। उस उपसर्गपूर्वक भू धातु से अनुभव शब्द बना है। जिसका अर्थ है फलदान शक्ति। स्थिति और अनुभव—ये दो शब्द भावसाधन में प्रयुक्त किए गए हैं। प्रदेशबन्ध, प्रदिश्यते असौ इति प्रदेशः यह कर्मसाधन का रूप है, जो कहा जाये, बताया जाये वह प्रदेश है अर्थात् कर्मपरमाणु। कर्म परमाणुओं का कर्मरूप परिणमना प्रदेशबन्ध है।

(२३८) प्रकृतिबन्ध का स्वरूप—प्रकृति और स्वभाव ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जैसे प्रश्न किया जाये कि नीम की क्या प्रकृति है? तो उत्तर होता है कि कड़वापन स्वभाव है। गुड़ की क्या प्रकृति है? तो उत्तर है कि मधुरता स्वभाव है। प्रकृति और स्वभाव ये भिन्न चीजें नहीं हैं, उसी प्रकार कोई पूछे कि ज्ञानावरण की क्या प्रकृति है? तो उत्तर है कि पदार्थ का ज्ञान न होना। जो कार्मणवर्गणायें ज्ञानरूप परिणमी हैं उनके विपाक में जीव पदार्थों का अवगम नहीं कर पाता। दर्शनावरण की क्या प्रकृति है? सुख दुःख का संवेदन होना। दर्शनमोह की प्रकृति है प्रयोजनभूत अर्थों का श्रद्धान न होना। जो मोक्षमार्ग के काम के हैं ऐसे तत्त्वों का श्रद्धान न होना यह दर्शनमोहनीय का स्वभाव है। चारित्रमोहनीय की क्या प्रकृति है? असंयम परिणाम होना। विषयों से विरक्ति न होना तथा हिंसा आदिक परिणामों से विरक्ति न होना। आयुकर्म की क्या प्रकृति है? अवधारण। भव में जीव को रखे रहना। जो शरीर पाया है उस शरीर में जीव को अवस्थित रखना आयुकर्म की प्रकृति है। नाम कर्म की क्या प्रकृति है? नारकादिक नाम का करना। नाम तो किसी वस्तु का किया जाता है। जो घटना घटे, जो देहपिण्ड बने उसमें नाम किया जाता है। यह नामकर्म की प्रकृति है। गोत्रकर्म की प्रकृति क्या है? उच्च और नीच स्थानों का बोधित होना। तो कोई उच्च कुली है, कोई नीच कुली है। इस प्रकार का व्यवहार गोत्रकर्म की प्रकृति है। अंतराय कर्म की प्रकृति दान आदिक में विनष्ट करना है। सो इस प्रकार के लक्षण वाला कार्य जिसकी प्रकृति बने उस कार्य के होने का जो स्रोत बने, निमित्त बने उसे प्रकृति कहते हैं।

(२३९) स्थितिबंध, अनुभवबन्ध व प्रदेशबन्ध का स्वरूप—स्थिति नाम है उस स्वभाव को च्युति न होने का, अर्थात् जिस कर्म प्रकृति में जो स्वभाव पड़ा है वह स्वभाव बना रहना। जितने काल तक उस स्वभावरूप से कर्म बना रहे उतने को स्थिति कहते हैं। जैसे कहा जाये कि गौ दूध की क्या स्थिति है अर्थात् गाय के दूध में जो मीठापन है वह चलित न हो, उसमें बना रहे यह उसकी स्थिति है? सो जब तक रस न बदले तब तक उसकी स्थिति कहलाती है। और इन दूधों की स्थिति में अन्तर है। जैसे ऊंटनी का दूध अधिक समय नहीं ठहरता, उसके रस, गंध सब एकदम बदल जाते हैं। तो उसकी स्थिति थोड़ी कहलायी। बकरी का दूध कुछ अधिक देर तक बना रहता है। गाय भैंस का दूध अपनी सही अवस्था में कुछ और अधिक देर तक बना रहता है। तो जिसमें जो माधुर्य स्वभाव बना है वह नष्ट न होना उसे स्थितिबन्ध कहते हैं। अनुभवबन्ध—जैसे बकरी गाय, भैंस आदिक के दूध में तीव्र मंद आदिक भावों से रस विशेष पाया जाता है उसी प्रकार कर्म पुद्गल के अपने आपमें प्राप्त सामर्थ्य विशेष को अनुभव कहते हैं अर्थात् फल देने की डिग्रियाँ यह अनुभागबन्ध है।

प्रदेशबन्ध परमाणु की इयत्ता का निश्चय होना अर्थात् इस प्रकृति में इतने कर्मपरमाणु बन्धे हैं आदिक रूप से इयत्ता का अनुभव होना प्रदेशबन्ध है। इस सूत्र में विधि शब्द प्रकार का कहने वाला है। उस बंध के कितने प्रकार हैं? तो प्रकृति आदिक चार प्रकार के हैं। यहाँ जो चार बंध कहे गए हैं उनमें से प्रकृतिबंध और प्रदेशबन्ध ये दो तो योग निमित्तक होते हैं, किन्तु स्थितिबंध और अनुभागबन्ध ये कषाय हेतुक होते हैं। जैसे-जैसे तीव्र कषाय होती जाये वैसे ही वैसे विशेष तीव्र बन्ध होता जाता है। कार्य कारण के अनुरूप होता है। तो जैसे-जैसे कषायें हों वैसे ही वैसे ये बन्ध भी होते रहते हैं। यहाँ तक बन्ध चार प्रकार के कहे गए। पहला बन्ध है प्रकृतिबन्ध। सो प्रकृतिबन्ध में मूल प्रकृतियाँ भी हैं, उत्तर प्रकृतियां भी हैं। तो उनमें मूल प्रकृतियों का वर्णन कर रहे हैं।

सूत्र 8-4

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥८-४॥

(२४०) द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय की विवक्षा में प्रकृतिबन्ध की सामान्यरूपता व ज्ञानावरणादि की विशेषरूपता होने से क्रमशः एक व बहुवचन में प्रयोग—अब प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ऐसी प्रकृति के मूल भेद ८ हैं। यहाँ एक शङ्खा होती है कि इस सूत्र में पद दो दिए गए हैं। पहला पद है आद्यः, दूसरे पद में कर्म के नाम दिए गए। यहाँ प्रथम पद में है एकवचन में और द्वितीय पद में है बहुवचन। तो जब यहाँ समानाधिकरण्य की बात चल रही है अर्थात् बन्ध ये-ये कहलाते हैं तो इन दोनों पदों में वचन एक समान होने चाहिएँ थे। दूसरे पद में बहुवचन है तो पहला पद में भी बहुवचन में हो जाना चाहिए? उत्तर—यहाँ दो नयों की विवक्षा में दो पद दिये गए हैं इस कारण उनमें विरोध नहीं आता। द्रव्यार्थिकनय का विषय है सामान्य, सो जब सामान्य की विवक्षा से कहा तो प्रकृतिबन्ध एक ही है। सामान्य में तो एक स्रोतरूप चीज ली जाती है। इस प्रकार द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से आद्य शब्द में एकवचन का प्रयोग किया गया है। अब उसका विशेष है ज्ञानावरणादिक ८ जो पर्यायार्थिकनय की प्रधानता से कहे जाते हैं सो जब पर्यायार्थिकनय की प्रधानता से कहा गया तो उन ८ पदों के समास से बहुवचन का प्रयोग किया गया है। लोक में भी समानाधिकरण होने पर भी वचन भेद देखा गया है। जैसे श्रोता लोग प्रमाण है, गाये धन है तो बहुवचन के साथ एकवचन का प्रयोग होना अनेक जगह सम्मत माना गया है।

(२४१) ज्ञानावरण आदि का व्युत्पत्त्यर्थ—ज्ञानावरणादिक ८ नाम लिए गए हैं, उनकी व्युत्पत्ति यथासम्भव कर्तृसाधन, कर्मसाधन और उभयसाधन में की गई है। जैसे आवरण का अर्थ है—आवृणोति आव्रियते अनेन इति आवरणं, जो आवरण करे, ढाके अथवा जिसके द्वारा वस्तु ढका जाये उसे आवरण कहते हैं। आवरण शब्द यहाँ दोनों में लगाया जाता है—ज्ञानावरण और दर्शनावरण। वेदनीय शब्द का अर्थ है वेद्यते इति वेदनीयं, जो वेदा जाये, अनुभवा जाये उसे वेदनीय कहते हैं। मोह शब्द की निरुक्ति है—मोहयति मुद्यते, जो मोहित करे, बेहोश करे उसे मोह कहते हैं। तो मोहनीय कर्म की प्रकृति है बेहोश करना। अब वह बेहोशी दो तरह की है—(१) एक तो पूरी बेहोशी जिसे मिथ्यात्व कहते हैं और (२) दूसरी कुछ प्रकाश रहते हुए भी बेहोशी,

जिसे रागद्वेष कहते हैं। ये मोहनीय की प्रकृतियां हैं। आयु शब्द का अर्थ है जो नरकादि भवों में ले जाये उसे आयु कहते हैं। जैसे कोई अभी तिर्यचभव में है और मर कर उसे नरक जाना है तो यहाँ की आयु समाप्त होने के बाद जो नरकायु लगेगी उस आयु की प्रकृति है नरक में ले जाना। इसकी व्युत्पत्ति है एति अनेन नारकादिभवे इति आयुः। नामकर्म का अर्थ है—नमयति आत्मानं इति नाम, जो आत्मा को निम्न कर दे सो नामकर्म है। नारकादि भवों में जो शरीर मिलता है उस शरीर सम्बन्धित सभी बातें नामकर्म की प्रकृति कहलाती हैं। गोत्र शब्द गु धातु से बना है, जिसका अर्थ है कहना, निर्देश करना, तो जो ऊंच और नीच रूप को बतलाये उसे गोत्र कहते हैं, गूयते शब्द्यते अनेन इति गोत्रं। अंतराय का अर्थ है अन्तर करना अर्थात् विघ्न करना। कोई दो वस्तुओं का सम्बन्ध बनता हो तो उसके बीच आ पड़े तो यही तो उनमें विघ्न कहलाता है। इसका निरुक्ति अर्थ है अन्तरं एति अन्तरायः अथवा अन्तरं ईयते अनेनेति अन्तरायः। दाता और देय के बीच में पड़ जाना, अन्तर करना अन्तराय कहलाता है। इस प्रकार इन ८ कर्मों की प्रकृतियाँ उन कर्मों के नाम से प्रसिद्ध होती हैं। जैसे खाये हुए भोजन का अनेक प्रकार का विकार बनता है। वह भोजन वात, पित्त, कफ, खल, रस आदिक अनेक रूप से परिणम जाता है। तो भोजन किया, अब वहाँ अन्तर में कोई कुछ प्रयोग तो नहीं करता, पर जठराग्नि का मेल होने से वह भोजन स्वयं अनेकरूप परिणम जाता है। इसी प्रकार बिना किसी प्रयोग के कर्म आवरण रूप से अनेक शक्तियों से युक्त होकर आत्मा में बन्ध जाते हैं।

(२४२) ज्ञानावरण और मोह में भेद होने से दोनों का पृथक् पृथक् निर्देश—यहाँ शंकाकार कहता है कि मोह के होने पर भी हित अहित का विवेक नहीं होता और हित अहित का जहाँ विवेक नहीं है उसी का नाम मोह है, मोह का काम ज्ञान का ढकना है। तो ज्ञानावरण और मोहनीय में कुछ अन्तर तो न रहा, फिर अलग क्यों कहा? उत्तर—पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का बोध होने पर भी यह ऐसा ही है इस प्रकार सद्भाव अर्थ का श्रद्धान न होना यह तो मोह है और ज्ञान न होना यह ज्ञानावरण है। तो ज्ञानावरण से वस्तु ग्रहण में ही नहीं आता, न सम्यकरूप, न विपरीत रूप से। जहाँ ज्ञानावरण का उदय है वहाँ ज्ञान पैदा नहीं होता। यह तो है ज्ञानावरण का काम और ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर वस्तु का ज्ञान तो बनता है पर यथार्थरूप में यह वस्तु ऐसा ही है इस प्रकार का निर्णय नहीं बनता, सो यह मोह है। यों ज्ञानावरण में और मोह में अन्तर है। अथवा जैसे बीज बोया, अंकुर उत्पन्न हो गए तो अंकुर तो हुआ कार्य और बीज हुआ कारण तो बतलावो बीज में और अंकुर में भिन्नता है या नहीं? स्पष्ट ध्यान आता कि भिन्नता है, उसी प्रकार अज्ञान मोह ये तो हैं कार्यभेद और उनका कारण है ज्ञानावरणादि व मोहनीय तो इस प्रकार उनमें भेद होना ही चाहिए। कार्य में अन्तर भी देखा जाता है, अज्ञान का और मोह का कार्य और भाँति है, ज्ञानावरण आदिक का कार्य और भाँति है इसलिए ज्ञानावरण और मोहनीय में अन्तर है।

(२४३) ज्ञानावरण व दर्शनावरण का लक्षणभेद होने से पृथक् पृथक् ग्रहण—ज्ञानावरण भी भिन्न-भिन्न हैं। जब ज्ञान और दर्शन में भिन्नता है, ज्ञान का काम है विशेष प्रतिभास, दर्शन का काम है सामान्य प्रतिभास अथवा ज्ञान का काम है स्वपर अर्थ का परिचय और दर्शन का काम है ज्ञानपरिणत आत्मा का प्रतिभास। तो जब ज्ञान और दर्शन में अन्तर है तो ज्ञानावरण और दर्शनावरण का भी अन्तर समझ लेना। यह ज्ञानावरण

एक सामान्यरूप से आस्रव मात्र हुआ, लेकिन वही मति आवरण, श्रुत आवरण आदिक रूप से परिणमन कर जाता है। जैसे जल ऊपर से बरसा तो एक ही रूप है किन्तु ताँबा, लोहा पीतल आदिक पात्र विशेष में वह जल पहुंचा तो अब उसका भिन्न रूप से परिणमन बन गया रस भी भिन्न-भिन्न रूप से हो गया, ऐसे ही ज्ञानावरण का काम है ज्ञान को रोकना, ज्ञान प्रकट न होने देना। तो इस स्वभावदृष्टि से तो ज्ञानावरण सब एक ही काम करते हैं, पर प्रत्येक आस्रव में सामर्थ्य भेद होने से मतिश्रुत आदिक के आवरण रूप से कहा जाता है। ज्ञानावरण का कार्य एक है—ज्ञान न होने देना, पर किस जगह कौनसी योग्यता वाला ज्ञान हुआ करता है और उसे न होने दे तो इस तरह ज्ञानावरण ५ रूपों से बन जाता है। यही बात दर्शनावरण आदिक में भी समझ लेना चाहिए।

(२४४) **पौद्गलिक कर्मस्कन्धों की अनेकविपाकनिमित्तता**—यहां शङ्काकार कहता है कि पुद्गलद्रव्य जब एक है, ज्ञानावरणादिक ८ कर्मपुद्गल ही तो हैं तो एक पुद्गलद्रव्य में किसी का आवरण करने का निमित्त होना, सुख दुःखादिक में निमित्त होना, ऐसे भिन्न-भिन्न कार्यों में निमित्त होने का विरोध मालूम होता है, अतः एक पुद्गलकर्म अनेक कार्यों का निमित्त नहीं हो सकता। इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि उन पुद्गल कर्मों का ऐसा ही स्वभाव है। एक भी पदार्थ हो तो उसमें अनेक प्रकार का सामर्थ्य पाया जाता है। जैसे अग्नि एक है फिर भी उसी में दहन करने का सामर्थ्य है, पकाने का सामर्थ्य है, प्रकाश करने का सामर्थ्य है। इन सब सामर्थ्यों का अग्नि में कोई विरोध नहीं है, इसी प्रकार पुद्गलद्रव्य एक ही है तो भी वह ज्ञान के आवरण का निमित्त होता है, सुख दुःख आदिक का भी निमित्त होता है, कोई विरोध नहीं है। दूसरी बात यह है कि उस एक पुद्गलद्रव्य में स्याद्वाद शासन में एकपना व अनेकपना माना गया है द्रव्यार्थिक दृष्टि से तो भी पुद्गलद्रव्य एक है और अनेक परमाणुओं के स्थिग्ध रूक्ष बन्ध के कारण जो अनेक स्कंधरूप पर्याय हुई है उन पर्यायों की दृष्टि से भी पुद्गलद्रव्य अनेक रूप है, इस कारण एक पुद्गलकर्म अनेक बातों के लिए निमित्तपने का विरोध नहीं है।

(२४५) एक में अनेक कार्यनिमित्तत्व की पराभिप्राय से भी सिद्धि—अब जरा इस ही बात को अर्थात् एक में अनेक का विरोध नहीं है, अन्य दार्शनिकों की दृष्टि से भी परखिये। पृथ्वी जल, अग्नि, वायु इनसे रची हुई जो इन्द्रिय है वह भिन्न-भिन्न जाति की है। तो उन इन्द्रियों का एक ही दूध या धी उपकारक होता है, पुष्ट करने वाला होता है। जैसे नासिका पृथ्वी तत्त्व से बनी है, रसना जलतत्त्व से बनी है, स्पर्शन वायुतत्त्व से बना है और नेत्र अग्नितत्त्व से बने हैं ऐसा किन्हीं दार्शनिकों ने माना है। उन्होंने भी यह स्वीकार किया है कि दूध धी आदिक के प्रयोग से सभी इन्द्रियों का पोषण होता है। तो अब यहां देखिये कि एक ही दूध धी सभी इन्द्रियों का अनुग्राहक देखा गया है। शायद कोई यह कहे कि वृद्धि तो एक ही चीज है अथवा धी दूध आदिक से जो बढ़वारी हुई है वह कार्य तो एक रूप है। उस एक वृद्धि का दूध धी ने उपकार किया है, इसलिए हमारी शंका ज्यों की त्यों रही। एक पुद्गल द्रव्यकर्म नाना प्रकार के कार्यों का निमित्त कैसे हो जाता? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि जितनी इन्द्रियां हैं उन सबकी वृद्धियाँ हैं तो प्रत्येक इन्द्रिय की वृद्धि जुदी-जुदी कहलाती है। जैसे कि इन्द्रियाँ भिन्न हैं उसी प्रकार इन्द्रियों की वृद्धियाँ भी भिन्न हैं। जिस प्रकार भिन्न जाति वाले तत्त्वों

से अग्नि जाति वाले नेत्र का अनुग्रह होता है उसी प्रकार आत्मा और कर्म ये चेतन और अचेतन हैं, इनकी जाति एक नहीं है। तो असमानजातीय कर्म आत्मा का अनुग्रह करने वाला है यह सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार कर्म के मूल भेद ८ सिद्ध हुए हैं।

(२४६) कर्म की तथा कर्मबन्ध की अनेक प्रकारता का दिग्दर्शन—अब जिज्ञासा होती है कि क्या ८ ही संख्या है या अन्य प्रकार कर्मों की संख्या हो सकती है? इसका समाधान—कर्म के कितने ही भेद बना लिए जायें—जैसे कर्म एक है, सामान्यरूप से सब पौद्गलिक कार्मणवर्गणायें हैं, यहाँ विशेष की विवक्षा न रही। जैसे सेना इतना कहने में हाथी, घोड़ा, प्यादे आदिक सब गर्भित हो जाते हैं, पर सेना शब्द के कहने में विशेषों की विवक्षा नहीं रहती। समुदाय की अपेक्षा एक ही सेना है, अथवा जैसे कह दिया—बगीचा तो उसमें आम, नींबू आदिक अनेक प्रकार के वृक्ष हैं, पर उनकी विवक्षा न होने से सामान्य आदेश से वन एक कहलाता है, ऐसे ही पुद्गलकर्म एक है, कर्म अब दो किस प्रकार हैं? पुद्गलकर्म दो प्रकार के हैं—(१) पुण्यकर्म और (२) पापकर्म। जैसे सेना एक कही गई पर उस सेना में पुछ अफसर हैं, कुछ सिपाही हैं तो जैसे वह सेना दो भागों में बँट गई—(१) सैनिक अफसर और (२) सैनिक सिपाही, इसी प्रकार वे पुद्गलकर्म दो भागों में बँट गए—(१) पुण्यकर्म और (२) पापकर्म। अथवा पुद्गलकर्म तीन प्रकार का है—(१) अनादि सान्त, (२) अनादि अनन्त और (३) सादिसान्त। कर्म की संतति अनादिकाल से चली आयी है मगर किसी के कर्मों का अन्त हो जाता है तो उसके कर्म अनादि सान्त कहलाये। अभ्य जीवों के कर्म अनादि से चले आये हैं और अनन्त काल तक रहे जायेंगे तो उनके कर्म अनादि अनन्त कहलायेंगे। तथा किसी ज्ञानी जीव के कर्म संवृत हो गए, कुछ समय से नवीन बंध नहीं हो रहा, फिर परिस्थितिवश, अज्ञानदशा को पाकर कभी नवीन बन्ध होने लगे तो सादि कहलाता है और उन्हीं का अन्तःप्रज्ञ दशा में कभी अन्त हो जायेगा, इसलिए सान्त भी कहलाये अथवा प्रत्येक कर्म किसी दिन बन्धना, किसी दिन खिरता, सो सभी सादि सान्त बन्ध है। अथवा वह कर्मबन्ध इस प्रकार भी तीन तरह का है—(१) भुजाकार बन्ध, (२) अल्पतर बन्ध, (३) अवस्थित बन्ध। बन्ध का और विस्तार बना लें तो वह भुजाकार बन्ध कहलाता है। कहीं कर्म अधिक बन्ध रहे थे उससे और कम-कम बन्धे तो वह अल्पतर बन्ध कहलाता है तथा कर्मबन्ध जैसे हो रहा था वैसा ही होता रहे तो वह अवस्थित बन्ध कहलाता है। अथवा बन्ध ४ प्रकार का है—(१) प्रकृतिबन्ध, (२) स्थितिबन्ध, (३) अनुभवबन्ध और (४) प्रदेशबन्ध। इनका वर्णन इससे पहले के सूत्रों में आ ही गया है। अथवा बन्ध ५ प्रकार का है—(१) द्रव्यबन्ध, (२) क्षेत्रबन्ध, (३) कालबन्ध, (४) भवबन्ध और (५) भावबन्ध। यह बन्ध उनकी निमित्त दृष्टि से ५ प्रकार का बना है। अथवा बन्ध ६ जीवकायों के विकल्प से ६ प्रकार का होता है। अथवा बन्ध ७ तरह का है—(१) राग के निमित्त से होने वाला बन्ध (२) द्वेष के निमित्त से होने वाला बन्ध (३) मोह के निमित्त से होने वाला बन्ध (४) क्रोध के निमित्त से होने वाला बन्ध, ऐसे ही (५) मान के निमित्त से होने वाला बन्ध, (६) माया के निमित्त से होने वाला बन्ध और (७) लोभ के निमित्त से होने वाला बन्ध। अथवा कर्मबन्ध ८ प्रकार का है। ज्ञानावरण आदिक जिनके नाम इस ही सूत्र में कहे गए हैं। इनसे बढ़ा बढ़ाकर संख्यात भेद कर्म के बन जाते हैं। और अध्यवसाय

साधन के भेद से असंख्यात् कर्म हो जाते हैं और भेद चूंकि अनन्तानन्त हैं, उनकी दृष्टि से अनन्त कर्मबन्ध कहलाता है अथवा इन ज्ञानावरणादिक कर्मों का अनुभाग अनन्त शक्ति वाला होता है, उस दृष्टि से अनन्त बन्ध कहलाता है।

(२४७) आठ कर्मों के सूत्रनिबद्ध क्रम का प्रयोजन—इस सूत्र में ८ कर्मों का जिस क्रम से नाम लिया गया है उसका प्रयोजन है। इसमें सबसे पहले ज्ञानावरण नाम लिखा है। ज्ञान अर्थात् ज्ञान के द्वारा आत्मा का ज्ञान होता है इसलिए सर्वप्रथम ज्ञानावरण नाम रखा गया है, क्योंकि ज्ञान ही आत्मा की जानकारी का साधकतम है अर्थात् ज्ञान से ही आत्मा जाना जाता है और ज्ञान से ही सर्व पदार्थों की व्यवस्था मानी जाती है। ज्ञानावरण के बाद दर्शनावरण लिखा है। इसका कारण यह है कि दर्शन भी प्रतिभास स्वरूप है लेकिन अनाकार प्रतिभास रूप है, जो कि साकार उपयोग से कुछ लघु कहलाता है, क्योंकि दर्शन में स्पष्ट ग्रहण नहीं होता, ज्ञान में वस्तु का स्पष्ट ग्रहण होता है, सो ज्ञान की अपेक्षा तो दर्शन निकृष्ट रहा, लेकिन आगे कहे जाने वाले वेदनीय आदिक की अपेक्षा यह प्रकृष्ट है। इसके कारण ज्ञानावरण के पश्चात् और वेदनीय आदिक से पहले दर्शनावरण का नाम लिया गया है। इसके बाद वेदनीय कर्म कहा गया है। वेदनीय में वेदना होती है और उस वेदना का सम्बन्ध ज्ञान दर्शन के साथ लगता है, क्योंकि वेदना ज्ञान दर्शन के साथ ही चलती है। जहाँ ज्ञान दर्शन नहीं है वहाँ वेदना नहीं हो सकती। जैसे घट पट आदिक पदार्थ वे अचेतन हैं, वहाँ ज्ञान दर्शन नहीं है। इस कारण वहाँ वेदना नहीं हो चलती। वेदनीय के बाद मोहनीय का नाम लिया है क्योंकि ज्ञान का, दर्शन का सुख दुःख का इन सबका विरोध है मोह से। जो मोही पुरुष है वह न तो जानता है, न देखता है, न सुख दुःख का वेदन करता है। यहाँ शंकाकार कहता है कि मूढ़ पुरुषों के भी जिनके मोह बसा है उन पुरुषों के भी सुख दुःख ज्ञान और दर्शन पाये जाते हैं। यदि मोही जीव के साथ सुख दुःख ज्ञान दर्शन का विरोध हो तो मिथ्यादृष्टि और संयमी जीवों के फिर सुख दुःख ज्ञान दर्शन न रहना चाहिए, परन्तु रहता है, फिर यह युक्ति देना कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय के बाद मोहनीय का नाम इस कारण लिखा है कि इसका उनसे विरोध है, यह बात संगत नहीं बैठती। इस शङ्का के समाधान में कहते हैं कि मोह का जो ज्ञान दर्शन आदिक से विरोध कहा है सो उसका अर्थ है कि कहीं तो विरोध देखा जाता है। सर्वत्र विरोध न सही, पर जहाँ व्यामोह अधिक है या एकेन्द्रिय आदिक जीव हैं उनके ज्ञान दर्शन अत्यन्त कम पाये जाते हैं। फिर दूसरी बात यह है कि भले ही मोही जीवों के भी ज्ञान दर्शन मिले, पर मोह से जो दबा हुआ है उस प्राणी के हित और अहित का विवेक आदिक तो हो ही नहीं सकता। अब मोहनीय के समीप में आयु का नाम लिया है, वह यह सिद्ध करता है कि प्राणियों का सुख दुःख आदिक सब आयु के कारण से होता है। आयु के उदय में यह जीव शरीर में रहता है तो उसके सुख दुःख मोह आदिक सभी बनते हैं, यह सम्बन्ध बताने के लिए मोहनीय के पास आयु शब्द को रखा है। आयुकर्म के बाद नामकर्म का नाम लिया है। इसका कारण यह है कि नामकर्म का उदय आयुकर्म के उदय की अपेक्षा रखता है। अर्थात् जैसी आयु का उदय होता है उसके अनुरूप गति जाति आदिक नामकर्म का उदय चलता है। नाम के बाद गोत्र शब्द रखा है क्योंकि जिसको शरीरादिक प्राप्त हो गए हैं, आयु के कारण जीव शरीर में मिल रहा है ऐसे पुरुष के गोत्र के उदय के कारण ऊँच नीच का व्यवहार चलता है इस कारण

नामकर्म के बाद गोत्रकर्म का नाम रखा है। इस प्रकार ७ कर्मों का क्रम कहा, अब बचा है अन्तरायकर्म, सो उस बचे हुए कर्म को अन्त में रखा गया है। अब यह जिज्ञासा होती है कि मूल प्रकृति बंध ८ प्रकार का कहा है। सो तो जानो। अब दूसरा उत्तर प्रकृतिबन्ध है, वह कितनी तरह का होता है इसका वर्णन करने के लिए सूत्र कहते हैं।

सूत्र 8-5

पञ्चनवद्वयष्टिविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशदिद्वपञ्चभेदो यथाक्रमम् ॥८- ५॥

(२४८) प्रकृतिबन्ध के उत्तरप्रकृतिबन्धों की संख्या का निर्देश—वे ज्ञानावरणादिक कर्म क्रम से ५, ९, २, २८, ४, ४२, २ और ५ भेद वाले हैं। इस सूत्र में दो पद हैं। प्रथम पद में तो सर्व संख्याओं का द्वन्द्व समाप्त किया गया है, फिर भेद पद के साथ बहुत्रीहि समाप्त किया गया है। जिससे अर्थ होता है कि ५, ९ आदिक हों भेद जिसके ऐसा वह प्रकृतिबन्ध है। यहाँ कोई शंका कर सकता है कि इस सूत्र में द्वितीय शब्द ग्रहण करना चाहिए था, इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता कि पहले जो भेद बताये गए थे वे तो मूल प्रकृतिबन्ध के थे। अब जो भेद बताये जा रहे हैं सो उत्तर प्रकृति के बन्ध हैं। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यह शंका यों ठीक नहीं कि जब पहले मूल प्रकृति के भेद बता दिये और अब मूल प्रकृतियों में ही ये भेद बताये जा रहे हैं तो अपने आप ही यह सिद्ध हो जाता है कि यह उत्तर प्रकृति बन्ध का विवरण है। इस सूत्र में कहे गए भेद शब्द का प्रत्येक संख्या के साथ सम्बन्ध रखाना, जैसे ज्ञानावरणकर्म ५ भेद वाला है, दर्शनावरण कर्म ९ भेद वाला है, वेदनीय कर्म दो भेद वाला है, मोहनीय कर्म २८ भेद वाला है, आयुकर्म ४ भेद वाला है, नामकर्म ४२ भेद वाला है, गोत्रकर्म दो भेद वाला है और अंतराय कर्म ५ भेद वाला है। इन कर्मों के साथ इन संख्याओं का क्रम से सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। यह सूचना देने के लिए सूत्र में यथाक्रम शब्द दिया गया है। नामकर्म की जो ४२ प्रकृतियाँ बतायी हैं सो उनमें पिण्ड प्रकृतियों को एक-एक माना है। जैसे गतिनामकर्म। उसको एक ही मान लिया। यद्यपि उसके चार भेद हैं लेकिन यहाँ उन प्रभेदों की विवक्षा नहीं की गई और जिसके भेद नहीं हैं ऐसी कर्म प्रकृतियाँ भी इस गिनती में हैं। इस प्रकार पिण्ड और अपिण्ड सर्व प्रकृतियां मिलकर ४२ हैं। यदि पिण्ड के भेद गिने जाये तो नामकर्म की सब प्रकृतियाँ ९३ होती हैं। अब यहाँ जिज्ञासा होती है कि यदि प्रथम आवरण अर्थात् ज्ञानावरण ५ का आवरण करता है तो वे ५ कौन से हैं जिनका आवरण यह प्रथम कर्म करता है।

सूत्र 8-6

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥८-६ ॥

(२४९) ज्ञानावरणकर्म की उत्तरप्रकृतियों का नामनिर्देश—मतिज्ञान का श्रुतज्ञान का अवधिज्ञान का, मनःपर्ययज्ञान का और केवलज्ञान का आवरण है। तो ज्ञानावरण कर्म के ५ भेद इस प्रकार हैं—(१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुतज्ञानावरण (३) अवधिज्ञानावरण (४) मनःपर्ययज्ञानावरण और (५) केवल ज्ञानावरण। इन पाँचों ज्ञानों का

संक्षेप रूप में लक्षण प्रथम अध्याय में बताया गया है। उन ज्ञानों का आवरण जिस कर्म के उदय से होता है उसे ज्ञानावरण कर्म कहते हैं। यहां यह शंका होती है कि केवल मत्यादीनां, इतना ही शब्द कहते तो इसका वही अर्थ आ जाता जो कि इतना बड़ा सूत्र बनाने में किया गया है। इस सूत्र में ५ के नाम ही तो लिए गए हैं सो मति आदिक में भी वे ही ५ नाम आ जाते क्योंकि ये ज्ञान पहले कहे गए थे। सो आदि शब्द कहते ही उन सबका ग्रहण हो जाता है और सूत्र में भी लाघव हो जाता। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि इन सबके नाम जो दिए गए हैं उससे सिद्ध यों होता है कि आवरण का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए। याने मतिज्ञान का आवरण श्रुतज्ञान का आवरण आदिक। यदि ये ५ नाम यहाँ न देते तो यह भी सम्बन्ध बन जाता कि मति आदिकों का एक ही आवरण है, याने एक ज्ञानावरण मति आदिक पांचों ज्ञानों का आवरण करता है, पर ऐसा नहीं है। मतिज्ञानावरण मतिज्ञान को ढाकता है, श्रुतज्ञानावरण श्रुतज्ञान को ढाकता है, अवधिज्ञानावरण अवधिज्ञान का आवरण करता है, मनःपर्ययज्ञानावरण मनःपर्ययज्ञान को ढाकता है, केवल ज्ञानावरण केवलज्ञान नहीं होने देता।

(२५०) आवरण का सम्बन्ध बताने के लिये पांचों ज्ञानों का नाम देने का कारण—यहाँ शंकाकार कहता है कि मत्यादीनां ऐसे बहुवचन का प्रयोग करने से और चूँकि ज्ञान के ५ प्रकारों की प्रसिद्धि है सो ५ संख्या की प्रतीति तो स्वयं ही हो जायेगी, फिर सूत्र में सभी ज्ञानों के नाम लिखने की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि यदि सूत्र में समान ज्ञानों के नाम न लिखे जाते और केवल बहुवचन देकर ही उनमें आवरण जोड़े जाते तो यह भी जोड़ा जा सकता था कि मतिज्ञान के ५ आवरण हैं अर्थात् प्रत्येक ज्ञान में ५-५ आवरण सिद्ध हो जाते हैं जो कि अनिष्ट हैं। मतिज्ञानावरण से तो मतिज्ञान ही ढकेगा, श्रुतज्ञानावरण से श्रुतज्ञान ही ढकेगा, लेकिन अब यह अर्थ हो जायेगा कि पांचों आवरणों से प्रत्येक ज्ञान ढका हुआ है। और जब सूत्र में पांचों ज्ञानों के नाम लिख दिए तो इन पांचों के नाम लिखने की सामर्थ्य से यह सिद्ध हो जायेगा कि मतिज्ञान का आवरण करने वाला श्रुत ज्ञानावरण है, ऐसा प्रत्येक ज्ञानावरण सिद्ध हो जाता है।

(२५१) कथंचित् सत् कथंचित् असत् मतिज्ञान आदि के आवरण की संभवता—यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि यह बताओ कि वह मतिज्ञानादिक जिसका आवरण बतला रहे हो वह सत् है या असत् है? याने सद्भूत मतिज्ञान का आवरण बतला रहे हो या असद्भूत मतिज्ञान का आवरण बतला रहे हो? यदि सत् मतिज्ञान का आवरण करते हो तो जब मतिज्ञान सत् है, उसने आत्मस्वरूप पा लिया है तो उसका आवरण नहीं बन सकता, और यदि कहा जाये कि मतिज्ञान असत् है जिसका आवरण बतला रहे हैं तो जब कुछ है ही नहीं तो आवरण किसका किया जायेगा? इस तरह आवरण सिद्ध नहीं होते। जैसे गधे का सींग असत् है तो उसके बारे में कोई कहे कि उसको कपड़े से ढाक दो तो भला बताओ कपड़ा किसमें ढाका जायेगा? सींग तो है ही नहीं। तो ऐसे ही मतिज्ञान अगर सत् है तो उसका आवरण नहीं हो सकता। अगर सत् है तो उसके आवरण का अभाव है। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यह शंका यों न करना चाहिए कि नयदृष्टि से इसका समाधान मिलता है। याने मतिज्ञान कथंचित् सत् है, उसका आवरण है मतिज्ञान कथश्चित् असत् है, उसका आवरण है। ऐसी ही सब ज्ञानों में बात लगाना। वह किस तरह? द्रव्यार्थिकनय से देखा जाये तो वे मतिज्ञानादिक सत् हैं, उनका

आवरण है। यह नय तो एक जीव को देखता है और जीवद्रव्य में ये सारी शक्तियां हैं। तो उस द्रव्यदृष्टि से तो सत् हुआ और जब पर्यायदृष्टि से देखते हैं तो उस समय मतिज्ञान है ही नहीं इसलिए असत् हुआ। तो इस प्रकार कथंचित् सत् और कथंचित् असत् मतिज्ञान का आवरण होता है। ऐसा ही सभी ज्ञानों में समझना। यदि यह कहा जाये कि एकान्त रूप से सत् ही हो तब आवरण बनता है याने मतिज्ञान है ही, उसका आवरण है ऐसा मानने पर तो फिर मतिज्ञान क्षयोपशमिक भी न कहलायेगा, क्योंकि वह तो है, और जो है सो पूरा है। यदि कहा जाये कि एकान्ततः मतिज्ञान असत् है, है ही नहीं, उसका आवरण होता है तो ऐसा मानने पर भी मतिज्ञान का क्षयोपशम न कहलायेगा, क्योंकि वह असत् है। जो असत् है उसकी तारीफ क्या की जा सकती है?

(२५२) कुछ उदाहरणों द्वारा मतिज्ञान आदि के आवरण में आवरणत्व का समर्थन—अथवा यही मान लीजिए कि मतिज्ञानादिक सत् है और उनका आवरण है तो क्या सत् का आवरण नहीं देखा जाता? आकाश सत् है और उसका मेघपटल आदिक के द्वारा आवरण देखा जाता है तो सत् का भी तो आवरण हो सकता है। तो यों यही समझ लीजिए कि मतिज्ञानादिक सत् हैं और उनका आवरण है। आवरण होने से प्रकट नहीं हो सकता। सो यह बात पर्यायदृष्टि से बताया ही है कि वे सब सत् हैं और उनका आवरण होने से वे पर्यायरूप में प्रकट नहीं हैं। अब दूसरी बात देखिये जैसे प्रत्याख्यान अर्थात् संयम त्याग ये कोई प्रत्यक्षभूत तो नहीं हैं कि लो यह कहलाता है त्याग। तो प्रत्याख्यान नाम का कोई पर्याय प्रत्यक्षभूत नहीं है, जिसके आवरण से प्रत्याख्यानावरण नाम पड़ा, किन्तु है क्या कि प्रत्याख्यानावरण होता है प्रकृति के सानिध्य से। उसके उदय से आत्मा प्रत्याख्यानरूप पर्याय से उत्पन्न नहीं हो सकता, याने नियम का घात करने वाले कर्मों के उदय से आत्मा संयम पर्याय में नहीं आ सकता। तो यही तो कहलाया ना प्रत्याख्यान का आवरण। इसी प्रकार ज्ञान में भी घटा लीजिए। मति आदिक ज्ञान कोई भी यों प्रत्यक्षभूत नहीं हैं, जैसे कि चूल्हा, खम्भा आदिक प्रत्यक्षभूत होते हैं सो ये मतिज्ञानादिक प्रत्यक्षभूत तो नहीं हैं जिसके आवरण से मतिज्ञानावरण में आवरणपना हो, किन्तु तथ्य यह है कि मतिज्ञानावरण के सानिध्य में अर्थात् इस प्रकृति के उदय में आत्मा मतिज्ञान पर्याय से उत्पन्न नहीं हो सकता, इसलिए मतिज्ञानावरण में आवरणपना है, सो पर्यायरूप में प्रकट नहीं है और परमार्थदृष्टि से देखा जाये तो वह असत् है। वह अवस्था अभी है ही नहीं। सो कथंचित् सत् और कथंचित् असत् मतिज्ञानादिक के आवरण सिद्ध होते हैं।

(२५३) अभव्य जीव के मनःपर्यज्ञानावरण व केवलज्ञानावरण की अनुपपत्ति की आशंका—यहाँ शंकाकार कहता है कि जो अभव्य जीव हैं उनके मनःपर्यज्ञान और केवल ज्ञान इनका सामर्थ्य है या नहीं? यदि कहा जाये कि मनःपर्यज्ञान और केवलज्ञान की शक्ति भी अभव्य में है तो फिर वह अभव्य नहीं कहला सकता। और यदि कहा जाये कि अभव्य में इन दोनों ज्ञानों का सामर्थ्य नहीं है तो फिर उनका आवरण मानना ही व्यर्थ है और इस तरह फिर ज्ञानावरण तीन ही कहे जाना चाहिए। मनःपर्यज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये कुछ न रहे, क्योंकि मनःपर्यज्ञान अभव्य में है ही नहीं, सामर्थ्य भी नहीं, केवलज्ञान की भी शक्ति नहीं। तो अभव्य जीव में तीन आवरण कहे जायेंगे, अंतिम दो आवरण नहीं क्योंकि यह बात प्रसिद्ध है कि मनःपर्यज्ञान भव्य

जीवों के ही हो सकता है, केवलज्ञान भी भव्य जीव के ही होता है। हाँ मति, श्रुत, अवधि ये भव्य के भी हो सकते हैं और अभव्य के भी हो सकते हैं। अभव्य में होंगे तो ये तीन विपर्ययज्ञान कहलायेंगे—(१) कुमति, (२) कुश्रुत और (३) कुअवधि। भव्य के होगे तो यदि वह सम्यग्दृष्टि है तो ये तीन ज्ञान सम्यक् कहलायेंगे और यदि वह मिथ्यादृष्टि है तो उसके ये तीनों ज्ञान विपर्यय कहलायेंगे, किन्तु मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान ये तो भव्य के ही होते हैं अभव्य के नहीं। तो जब इसकी सामर्थ्य भी नहीं अभव्य में है तो इसके आवरण की कल्पना करना व्यर्थ है।

(२५४) अभव्य जीव के मनःपर्ययज्ञानावरण व केवलज्ञानावरण की उपपत्ति बताते हुए उक्त शंका का समाधान—उक्त शंका के उत्तर में कहते हैं कि नय दृष्टि से समझने पर यह शंका न रहेगी। जब द्रव्यार्थदृष्टि से देखते हैं तो मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान सत् हैं और उनका आवरण है। जब द्रव्यार्थदृष्टि व देखते हैं तो मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये असत् हैं। यहाँ यह भी शंका न करना कि यदि द्रव्यार्थदृष्टि से सब जीवों में अभव्य के भी मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान है ऐसा माना जाये तो अभव्य जीव अभव्य न रहा, वह भव्य ही बन गया। यह शंका यों न करना कि भव्य और अभव्यपना सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान, सम्यक्चारित्र की शक्ति होने या न होने के आधार पर नहीं है, अर्थात् जिस जीव में सम्यग्दर्शन की शक्ति हो वह भव्य है, जिसमें सम्यग्दर्शन की शक्ति न हो वह अभव्य है। यह सिद्धान्त नहीं है, किन्तु सिद्धान्त यह है कि सम्यक्त्वादिक की प्रकटता की योग्यता जिसमें है वह भव्य है और सम्यक्त्वादिक प्रकट करने की योग्यता जिसमें नहीं है वह अभव्य है। जैसे स्वर्णपाषाण और अंधपाषाण, इनमें ऐसा न लखना चाहिए कि जिसमें स्वर्णत्व शक्ति न हो वह स्वर्ण नहीं, किन्तु यह सिद्धान्त निरखना चाहिए कि जिस पाषाण में स्वर्णपना प्रकट होने की योग्यता हो वह तो है सही स्वर्ण पाषाण और जिस पाषाण में स्वर्णपने की शक्ति तो है पर स्वर्णत्व शक्ति की प्रकटता की योग्यता नहीं है उसे कहते हैं अंधपाषाण। दूसरा दृष्टान्त लीजिए—जैसे सही मूँग और कुरड़ मूँग। मूँग के दानों में कुछ दाने ऐसे होते हैं कि उन्हें कितने ही घंटे लगातार पकाया जाये फिर भी वे सीझेंगे नहीं, ज्यों के त्यों पत्थर की तरह रहेंगे। तो वहाँ अगर जाति की अपेक्षा देखा जाये तो दोनों मूँग एक समान हैं, पर पकने की प्रकटता की योग्यता से देखा जाये तो सही मूँग दाल के काम आती है और कुरड़ मूँग अयोग्य है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदिक की शक्ति की अपेक्षा देखा जाये तो भव्य अभव्य सब जीव द्रव्यार्थिक दृष्टि से समान हैं किन्तु सम्यग्दर्शन की प्रकटता की योग्यता के ध्यान से देखा जाये तो भव्य जीव तो सम्यग्दर्शन प्रकट करने की योग्यता रखते हैं किन्तु अभव्य जीव नहीं। तो यों शक्ति की दृष्टि से द्रव्यार्थनय से वहाँ मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान शक्ति है। वह शक्ति जिस आवरण के उदय से प्रकट नहीं होती है उसे मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण कहते हैं।

(२५५) ज्ञानावरण के उदय में होने वाले क्लेशों का दिग्दर्शन कराते हुए ज्ञानावरण की उत्तर प्रकृतियों के प्रकरण का उपसंहार—ज्ञानावरण के उदय से ज्ञान का सामर्थ्य रुक जाता है, स्मृति लुप्त हो जाती है, धर्म सुनने में उत्सुकता नहीं रहती है और ऐसा जीव अज्ञानकृत और अपमान कृत बहुत दुःखों को भोगता है। अज्ञानकृत दुःख तो यह है कि जब दूसरे ज्ञानियों को देखता है तो अपने में दुःख अनुभव करता कि मुझे कुछ ज्ञान न

हुआ, मैं मूढ़ ही रहा । अपमान का दुःख मानता, इस प्रकार जब ज्ञानियों की गोष्ठी होती हो, उसमें यह भी बैठ जायेगा तो ज्ञानी तो चर्चा करेगा, उसकी ओर लोग दृष्टि देंगे तो यह अपना अपमान महसूस करता है । इस प्रकार ज्ञानावरण की उत्तर प्रकृतियों के भेद कहा, अब दर्शनावरण की उत्तर प्रकृतिया कहना चाहिए, सो सूत्र में कहते हैं ।

सूत्र ४-७

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यान गद्यश्च ॥८-७॥

(२५६) दर्शनावरण की उत्तर प्रकृतियों में चार आवरण वाली उत्तरप्रकृतियों का निर्देश—चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल इन चार दर्शनों के तो आवरण तथा निद्रा, निद्रा निद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि, ये ५ स्वतंत्र ऐसी दर्शनावरणकर्म की ९ उत्तर प्रकृतियां हैं । इस सूत्र में ४ भेद का पद अलग दिया है और ५ भेद का पद अलग दिया है । सो प्रथम चार भेद के प्रत्येक नाम में दर्शनावरण का सम्बन्ध जुड़ना चाहिए । तब उनके नाम हुए चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण । चक्षुदर्शनावरण के उदय में यह जीव चक्षुइन्द्रिय द्वारा प्रतिभास नहीं कर सकता । जिनके चक्षुदर्शनावरण का उदय है उनको चक्षुइन्द्रिय ही प्राप्त न होगी, फिर चक्षु द्वारा प्रतिभास कहा से हो? चक्षुदर्शन चक्षुइन्द्रियजन्य ज्ञान से पहले होता है और उस चक्षुदर्शन का कार्य चक्षुइन्द्रियजन्य ज्ञान के लिए शक्ति प्रदान करना है । अचक्षुदर्शन चक्षुइन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रिय और मन से होने वाले सामान्य प्रतिभास को कहते हैं । अथवा स्पर्शन, रसना ग्राण कर्ण और मन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान से पहले जो सामान्य प्रतिभास होता है जो आत्मस्पर्श होता है जिसके द्वारा ज्ञान की शक्ति प्रकट होती है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं । इस दर्शन का जो आवरण करे उसे अचक्षुदर्शनावरण कहते हैं । अवधिदर्शन अवधिज्ञान से पहले होने वाले आत्मस्पर्श को, सामान्य प्रतिभास को अवधिदर्शन कहते हैं । उस अवधिदर्शन का जो आवरण करे उसे अवधिदर्शनावरण कहते हैं । केवलदर्शनावरण केवलदर्शन का आवरण करने वाले कर्म को केवलदर्शनावरण कहते हैं । केवलदर्शन केवलज्ञान के साथ-साथ ही होता है । केवलज्ञान से त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को जाना और समस्त पदार्थों का जाननहार अर्थात् जहाँ सर्वज्ञेयाकार झलक रहे हैं ऐसे आत्मा का दर्शन करने वाला केवलदर्शन होता है । इस केवलदर्शन का जो आवरण करे सो केवल दर्शनावरण है । जैसे केवलज्ञानावरण के उदय में केवलज्ञान रंच भी नहीं हो सकता, ऐसे ही केवलदर्शनावरण के उदय में केवल दर्शन कभी नहीं हो सकता ।

(२५७) निद्रादिक पांच निद्रासम्बन्धित दर्शनावरणों का निर्देश—निद्रा, मद अथवा परिश्रम को हरने के लिए, दूर करने के लिए जो शयन होता है उसे निद्रा कहते हैं । निद्रा शब्द में नि तो उपसर्ग है, द्रा धातु है जिसका अर्थ है कुत्सक्रिया अर्थात् बेसुध जैसी क्रिया । जिस दर्शनावरण के उदय से आत्मा निद्रित होता है उसे निद्रा दर्शनावरण कहते हैं । निद्रानिद्रा—निद्रा के ऊपर फिर बार-बार निद्रा आना निद्रानिद्रा कहलाता है । जैसे कुछ नींद समाप्त ही हो रही हो या किसी ने जगा दिया है उसके बाद भी फिर नींद आ जाना, निद्रा पर निद्रा आने को निद्रानिद्रा कहते हैं । ऐसी स्थिति जिस कर्म के उदय से हो उसे निद्रानिद्रा दर्शनावरण कहते हैं । प्रचला—

जो किया आत्मा को प्रचलित करे उसे प्रचला कहते हैं। प्रचला शोक, परिश्रम, मद आदिक से उत्पन्न होता है। प्रचला में बैठे ही बैठे शरीर और नेत्रादिक में विकार उत्पन्न करने वाली नींद सी होती है जिसमें इन्द्रिय का व्यापार तो नहीं होता फिर भी अंग चलते रहते हैं, ऐसी प्रचला जिस दर्शनावरण कर्म के उदय से हो उसे प्रचलादर्शनावरण कहते हैं। प्रचलाप्रचला—वही प्रचला बार-बार होती रहे उस प्रचलाप्रचला कहते हैं। ऐसी प्रचलाप्रचला जिस दर्शनावरण कर्म के उदय से हो उसे प्रचलाप्रचलादर्शनावरण कहते हैं। स्त्यानगृद्धि—स्त्यान में गृद्धि होना स्त्यानगृद्धि है अर्थात् स्वप्न में कोई अतिशयकारी बलयुक्त कार्य करना स्त्यानगृद्धि है। जैसे दर्शनावरण के उदय से स्वप्न में ही रौद्र कर्म कर लिया जाये या बुरा कर्म कर लिया जाये तो वह स्त्यानगृद्धि है। स्त्यानगृद्धि जिसे होती हो वह पुरुष स्वप्न में भी बड़े काम कर लेता है, पर जगने पर उसे ख्याल नहीं रहता कि मैंने क्या किया था।

(२५८) निद्रानिद्रा व प्रचलाप्रचला में वीप्सार्थक द्वित्व की सिद्धि—यहाँ एक शंका होती है कि निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला इन दो भेदों में जो एक शब्द का दो बार प्रयोग किया है सो दुबारा प्रयोग करना वहाँ सम्भव है जहाँ उसका नाना आधार बना हो, पर यह सब तो एक ही आत्मा में हो रहा है। तो जब नाना अधिकरण नहीं हैं तो वीप्सा अर्थात् दुबारा कहना युक्त नहीं बैठता। तब निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला ये दो भेद उचित नहीं विदित होते। इस शंका के उत्तर कहते हैं कि वीप्सा का यह नियम नहीं है कि वह नाना अधिकरणों में रहे। प्रथम बात तो यह है। अभीक्षण अर्थ में याने निरंतर करने के अर्थ में द्वित्व प्रसिद्ध होता है और वीप्सा भी बन सकती है। यों एक ही आत्मा में निद्रा के दो बार अनेक बार आने से वीप्सा का अर्थ बन जाता है। दूसरी बात यह है कि काल आदिक के भेद से अधिकरण भी भिन्न सिद्ध हो जाता है। जैसे कोई एक ही बालक गत वर्ष सेकेण्ड डिवीजन में पास हुआ था और इस वर्ष फर्स्ट डिवीजन और फर्स्ट पोजीशन में पास हुआ तो उसे लोग कहते हैं कि यह बालक गत वर्ष तो चतुर था, पर इस वर्ष अत्यंत चतुर है। तो एक ही बालक में दो अधिकरण मान लिया और वहाँ दो का प्रयोग किया गया। कभी देशकृत दृष्टि से भी दो का प्रयोग होता है। जैसे पहले अपने गांव में कोई रहता था तो साधारण था, अब वह पास के शहर में पहुंच गया, व्यवसाय चल गया तो वह सम्पन्न हो गया तब उससे लोग कहते हैं कि जो तुम गांव में थे सो न रहे, अब तुम दूसरे हो गए, सम्पन्न हो गए। तो यों विवक्षावश एक ही वस्तु में नाना अधिकरण जैसा प्रयोग होता है। ऐसे ही एक जीव में भी कालादिक के भेद से निद्रानिद्रा का नानाधिकरणत्व सिद्ध हो सकता है तथा एक ही आधार में निद्रा किया का द्वित्व घटना वश बन जाता है। अतः निद्रानिद्रा व प्रचलाप्रचला में वीप्सार्थक द्वित्व कहने में कुछ भी विशेष नहीं है।

(२५९) निद्रा में साता असाता में से सातावेदनीय के उदय की प्रधानता—दर्शनावरण कर्म के भेदों में जो निद्रा नामक प्रकृति है उस निद्रा दर्शनावरण कर्म और साता वेदनीय का उदय होने से निद्रा परिणाम बनता है। निद्रा आने में लोग सुख का अनुभव करते हैं। जैसे किसी को नींद नहीं आती तो वह चिकित्सा कराकर उपाय बनाकर नींद लेना चाहता है। तो यद्यपि निद्रा दर्शनावरण के उदय में आत्मा का दर्शन नहीं होता, वस्तु का दर्शन नहीं होता तो भी वहाँ श्रम, शोक दूर होता हुआ देखा जाता है। तो स्पष्ट वहाँ साता वेदनीय का उदय

है। हो उसके साथ असातावेदनीय का भी आगे पीछे मंद उदय चलता रहता है। इसी प्रकार शेष चार निद्रावों का भी यही ढंग है। इस सूत्र में ५ निद्रावों का द्वन्द्व समाप्त किया गया है और उनके साथ दर्शनावरण का सम्बन्ध जोड़ा गया है।

(२६०) दर्शनावरण की उत्तरप्रकृतियों का लक्षण व प्रभाव—इस सूत्र में जो दर्शनावरण के भेद कहे गए हैं उनको दो पदों में रखो। प्रथम पद में षष्ठी विभक्ति है जिसमें दर्शनावरण का भेद रूप से निर्देश होता है। द्वितीय पद में प्रथमा विभक्ति है, सो समान रूप से, भेद रूप से दर्शनावरण का सम्बन्ध होता है, जैसे चक्षुर्दर्शन का आवरण। इस ढंग से तो चार दर्शनों का आवरण कहा जाता है और निद्रारूप दर्शनावरण आदि में अभेदरूप दर्शनावरण लिया गया है। जिस समय जीव के चक्षुर्दर्शनावरण का उदय है उस समय चक्षु इन्द्रिय द्वारा वह सामान्य प्रतिभास नहीं कर पाता अर्थात् चक्षुइन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले ज्ञान से पहले जो प्रतिभास होता है वह नहीं हो पाता। इसी प्रकार अचक्षुर्दर्शनावरण के उदय से शेष ४ इन्द्रिय और मन द्वारा सामान्यप्रतिभास नहीं हो पाता है। उस पर इन दर्शनावरणों का असर होता है, अर्थात् निमित्तनैमित्तिक भाव के रूप से इस दर्शनावरण के उदय के सान्निध्य में इसका निमित्त पाकर जीव दर्शनगुण प्रकट नहीं कर पाता। अवधिदर्शनावरण के उदय से अवधिज्ञान नहीं होता और केवलदर्शनावरण के उदय से केवलदर्शन नहीं होता। निद्रारूप दशा तो एक अंधकार अवस्था जैसी है, क्योंकि नींद आने पर उसके इन्द्रिय का व्यापार बंद हो जाता। न कुछ छूता है, न चखता है न सूंघता है, न देखता है और न सुनता है पर निद्रानिद्रा दर्शनावरण के उदय से महान् अंधकार जैसी अवस्था हो जाती है, क्योंकि इसमें इतनी गाढ़ निद्रा है कि बहुत तेज जगाया जाने पर भी सोये हुए पुरुष को हिलाकर जगाने पर भी मुश्किल से जगता है। प्रचला दर्शनावरण के उदय से तो कुछ अंगों का प्रचलन होता है। घूरना, नेत्र का व शरीर के अंग का चलना। जैसे किसी की आँखें खुली रहती हैं और वह नींद लेता रहता है तो उस समय उसे दिखता कुछ नहीं है, आँखें भर खुली हैं। कैसी विकट अवस्था है कि आँखें पूरी खुली हैं और उसे दिखता नहीं है। प्रायः करके नींद आँख बंद की हालत में रहती है, पर किसी किसी के यह दशा पायी जाती है तो भी वहां दर्शन कुछ नहीं होता। प्रचलाप्रचला दर्शनावरण के उदय से यह जीव बहुत अधिक ऊँघता है और किसी तीक्ष्ण वस्तु से कुछ शरीर भी छिद जाये तो भी वह कुछ नहीं देख पाता। ऐसा तीव्र दर्शन का आवरण है। इस प्रकार दर्शनावरण कर्म की उत्तरप्रकृतियों को बताकर अब तृतीय नम्बर में पुरुष वेदनीय कर्म के भेदों को बतलाते हैं।

सूत्र 8-8

सदसद्वेद्ये ॥८-८॥

(२६१) सातावेदनीय की उत्तरप्रकृतियों का विवरण—सातावेदनीय और असातावेदनीय ऐसी दो उत्तरप्रकृतियाँ वेदनीय कर्म की हैं, जिनके उदय से देवादिक गतियों में जहाँ कि बहुत प्रकार के सांसारिक आराम हैं, शारीरिक मानसिक सुखों की प्राप्ति हो, उसे सातावेदनीय कहते हैं। सद्वेद्य शब्द में सत् और वेद्य ऐसे दो विभाग हैं। सत् मायने भला, शुभ, प्रशस्त, इष्ट है तथा वेद्य का अर्थ अनुभव करने योग्य है। सातावेदनीय के उदय से दो

कार्य होते हैं—एक तो इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होना और दूसरा—इन्द्रिय द्वारा सुख रूप से अनुभव बनना। जिस कर्म के उदय से अनेक प्रकार के दुःख हों, नारकादिक गतियों में जैसे शारीरिक मानसिक नाना दुःख पाये जाते हैं ऐसे कठिन दुःख होना, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, शरीर की व्याधियों का होना, दूसरे के द्वारा वध होना, पीटा जाना, बंधन होना, जन्म, जरा, मरण होना ये दुःख जिसके फल हैं वह सब असातवेदनीय है। असद्वेद्य में दो भाग हैं—(१) असत् और (२) वेद्य। असत् का अर्थ है अशुभ, अप्रशस्त, अनिष्ट और वेद्य का अर्थ है वेदन में आना। असाता वेदनीय के उदय से अनिष्ट दुःख के हेतुभूत पदार्थ और घटनाओं का संयोग होता है। और इन्द्रिय द्वारा असाता रूप से वेदन होता है। इस प्रकार वेदनीय कर्म की दो उत्तर प्रकृतियों का वर्णन हुआ, अब क्रम प्राप्त मोहनीय के २८ भेदों का वर्णन करते हैं।

सूत्र ४-९

दर्शनचारित्रमोहनीयाऽकषायकषाय वेदनीयाख्यास्त्रिदिवनवषोडशभेदाः

सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषाया हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा-

स्त्रीपुंनपुंसकवेदाः अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्ज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमाया लोभाः ॥८-१॥

(२६२) मोहनीयकर्म के मूलभेदरूप दर्शनमोहनीय व चारित्रमोहनीय में से दर्शनमोहनीय के प्रकारों का विवरण—मोहनीय कर्म के मूल भेद दो हैं—(१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के उदय से तो जीव को तत्वार्थ का सत्य श्रद्धान नहीं हो पाता और अतत्व श्रद्धान में ही बना रहता है। इस दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं—(१) सम्यक्त्व (२) मिथ्यात्व और (३) सम्यग्मिथ्यात्व। इन तीनों में मूल आधार प्रकृति है मिथ्यात्व, क्योंकि बन्ध केवल मिथ्यात्व का होता है। सम्यक्त्वप्रकृति और मिश्र प्रकृति का बन्ध नहीं होता फिर उनकी सत्ता कैसे हो जाती है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जब अनन्तानुबन्धी ४ और मिथ्यात्वप्रकृति के उपशम सम्यक्त्व होता है तो उपशम सम्यक्त्व होने के प्रथम क्षण में ही मिथ्यात्व प्रकृति दलित हो जाती है। इस समय मिथ्यात्व प्रकृति का उदय तो नहीं है क्योंकि उपशम सम्यक्त्व का अभ्युदय हुआ है, लेकिन सत्ता में है। तो उस सत्ता में ही रहने वाली मिथ्यात्वप्रकृति का दलन होता है जिससे कि अधिक दलित मिथ्यात्व प्रकृति की कर्मवर्गणायें सम्यक्त्वप्रकृतिरूप बन जाती हैं। इस सम्यक्त्व प्रकृति का जब उदय हो तो सम्यक्त्व तो नाश नहीं हो पाता किन्तु सम्यक्त्व में दोष लगता रहता है, जिन्हें चल, मलिन और अगाढ़ कहते हैं। यह पहला सूक्ष्म दोष है। सम्यक् प्रकृति का उदय क्षयोपशम सम्यक्त्व की स्थिति में मिलेगा। जहाँ अनन्तानुबन्धी ४ प्रकृतियों का और मिथ्यात्व प्रकृति का तथा मिश्र प्रकृति का उदयाभावी क्षय हुआ और सूक्ष्म प्रकृतियाँ जो सत्ता में स्थित हैं, जिनका उदय आगे आयेगा उनका उपशम हो, ऐसी स्थिति के साथ सम्यक्प्रकृति का उदय हो तो क्षयोपशमिक सम्यक्त्व होता है। तो इस सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व का घात तो नहीं है किन्तु सम्यक्त्व में सूक्ष्म दोष लगते रहते हैं। सम्यक्त्व प्रकृति का कार्य सम्यग्दर्शन नहीं किन्तु सम्यक्त्व में दोष लगाना है। मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से जीव के मिथ्यादर्शन रहता है। शरीर को जीव को एक मानना विकार में स्वभाव में अन्तर न समझ पाना, अहंकार, मम कार, कर्तृत्वबुद्धि तथा भोक्तृत्व बुद्धि होना, ऐसे

अटपट भाव मिथ्यादर्शन कहलाते हैं। मिश्र प्रकृति के उदय में इस जीव के मिश्र परिणाम होता है। अर्थात् जिसे न तो केवल सम्यक्त्वरूप कहा जा सकता है और न केवल मिथ्यात्वरूप कहा जा सकता, किन्तु जात्यंतर जैसी दशा होती है। कोई दही गुड़ को मिलाकर खाये या, दही शक्कर मिलाकर खाये तो उसमें स्वाद न केवल दही का मिल सकेगा न केवल मीठे का मिल सकेगा, किन्तु कोई तीसरा ही स्वाद हो जाता है। ऐसा मिश्र प्रकृति का जहाँ उदय है वहां अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व का उदयाभावी क्षय है और उपशम है और ऐसे ही यदि सम्यक्प्रकृति सत्ता में है तो उसका भी उपशमन रहता है। इस प्रकार दर्शनमोहनीय के तीन भेदों का वर्णन हुआ।

(२६३) चारित्रमोहनीय के भेद अकषायवेदनीय व कषायवेदनीय में से अकषायवेदनीय के प्रकारों में हास्य, रति, अरति, शोक का निर्देशन—अब मोहनीय के मूल भेदों में जो चारित्र मोहनीय है, जिसके उदय से आत्मा के चारित्रगुण का विकास नहीं हो पाता उस चारित्र मोहनीय के दो भेद कहे गये हैं—(१) अकषाय वेदनीय और (२) कषाय वेदनीय। जिसके सीधे नाम हैं नोकषाय और कषाय। नोकषाय के ९ भेद हैं—(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) शोक, (५) भय, (६) जुगुप्सा, (७) स्त्रीवेद, (८) पुरुषवेद, (९) नपुंसकवेद। हास्य प्रकृति के उदय से हँसी का आविर्भाव होता है। हँसना, मजाक करना, भीतर रोष के कारण दिल्लगी करके खुश होना यह सब हास्य की घटना है। रति प्रकृति के उदय से इष्ट देश, काल, द्रव्य में उत्सुकता रहती है। प्रीति का परिणाम बनता है, उसकी ओर खिंचाव रहता है। अरति प्रकृति के उदय से देश आदिक में, पदार्थों में अनुत्सुकता अप्रीति का भाव रहता है जिससे कि उससे हटने का भीतर में भाव बना रहता है। शोक प्रकृति के उदय में रंज का परिणाम होता है। किसी भी घटना को चित्त में लेकर उसके लाभ अलाभ के सम्बंध को सोचकर शोक बना रहता है।

(२६४) भयप्रकृतिनामक कषायवेदनीय मोहनीयकर्म के अनुभाग का वर्णन—भयप्रकृति के उदय से ७ प्रकार का भय उत्पन्न होता है। इस लोक में इस पर्याय में मेरा गुजारा कैसे होगा, कभी कोई आपत्ति न आवे आदिक बातों को विचार विचारकर इस लोक का भय बना रहता है। ये भय अनेक प्रकार के हैं, जिनका परिचय साधारणतया सभी मनुष्यों को है। कितने प्रकार के भय इस चित्त में बसे रहते हैं? किसी को थोड़ा बहुत परलोक सम्बंधी बात करनी आती है तो वह परलोक का भय बनाये रहता है। पता नहीं कैसा मुझे जन्म मिलेगा, कहीं मेरी खोटी दशा न हो, दरिद्र न बनूं आदिक अनेक प्रकार के भय होते हैं। शरीर की व्याधि का भय बना रहता है। शरीर में कभी रोग न हो, अगर रोग होता है तो घबड़ाते कि हाय अब क्या होगा, मरण हो जायेगा, कैसे बात बनेगी, आदिक अनेक भय भयप्रकृति के उदय में चलते हैं। एक भय अगुसि का होता है। मकान खुला है, किवाड़ों का अच्छा प्रबंध नहीं है। कहीं किवाड़ लगे नहीं हैं, कहीं लगे भी हैं, किवाड़ तो अत्यंत जीर्ण शीर्ण हालत में हैं। ऐसी हालत में मैं कैसे सुरक्षित रह सकूंगा, ऐसा भय भयप्रकृति के उदय में चलता है। एक भय अरक्षा का रहता है। मेरी रक्षा करने वाला कोई नहीं है, किसी की मुझ पर भली-भाँति छाया नहीं है, मेरे मकान आदिक भी ढंग से नहीं हैं आदिक अरक्षा सम्बन्धी भय भयप्रकृति के उदय में चलते हैं। एक भय मरण का भी होता है। मरण से प्रायः सभी जीव डरते हैं। जिसको अपने आत्मा के स्वतंत्र

स्वरूपास्तित्व की श्रद्धा नहीं है वह मरणभय से बड़ा व्याकुल रहता है । यद्यपि मरण होने पर जीव का कुछ बिगड़ता नहीं है । जो जीव अपनी सत्ता में है वह अपनी पूरी सत्ता लिए हुए अपनी सर्वगुण समृद्धि में रहता हुआ इस शरीर में न रहकर अगले शरीर में रहने के लिए जाता है और नवीन शरीर में रहता है । तो मरण से बात भली होने वाली है । एक जीर्ण शीर्ण शरीर को छोड़कर किसी नवीन शरीर में पहुंचने वाली खुशी वाली बात है, किन्तु जिनको अपने अस्तित्व का परिचय नहीं है उनको मरण का भय बना रहता है । एक भय आकस्मिक होता है—अटपट भय । किसी भी घटना की कल्पना करके, कहीं ऐसा न हो बैठे, ऐसे अनेक भय लगाये रहते हैं । तो भय प्रकृति के उदय में इस जीव के भय होता है ।

(२६५) जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद प्रकृति नामक अकषायवेदनीय मोहनीयकर्म के प्रकारों का निर्देशन—जुगुप्सा ग्लानि को कहते हैं । मन खराब हो जाना, अधीर हो जाना, ये सब जुगुप्सा की प्रकृतियाँ हैं । जुगुप्सा प्रकृति के उदय से जुगुप्सा के भाव होते हैं । जुगुप्सा का पर्यायवाची शब्द कुत्सा हो सकता है, मगर यह जुगुप्सा के भाव को पूरा नहीं बता पाता । अपने दोषों का सम्वरण करना, दोषों को ढाँकना ऐसी मूल में बात तो जुगुप्सा की होती है, किन्तु कुत्सा में दूसरे के कुल शील आदिक के दोषों को बताने का भाव और उनमें दोष हों तो उससे एक क्षुब्ध होने का भाव होता है । स्त्रीवेद नामकर्म के उदय से स्त्रियों के जैसे भाव उत्पन्न होते हैं । पुरुष की कामना करना, नेत्र विप्रम करना, काम के आवेश में रहना, इन भावों को प्राप्त होता है और यह ही भाव स्त्रीवेद कहलाता है । जब स्त्रीवेद का उदय होता है तब पुरुषवेद नपुंसकवेद सत्ता में रहते हैं । स्त्री का जो शरीर है उसकी रचना तो नामकर्म के उदय से होती है । पर स्त्रीवेद के उदय से स्त्री के सम्भव भाव हुआ करते हैं । और इसी कारण कोई शरीर से पुरुष हो उसके भी स्त्रीवेद का उदय सम्भव है, इसी प्रकार शरीर से कोई स्त्री हो तो उसके भी पुरुषवेद का उदय सम्भव है । पुरुष का शरीर भी नामकर्म के उदय से बना हुआ है, और उसमें वेद विषयक भाव इस चारित्रमोहनीय के उदय से होता है । पुरुषवेद के उदय से जीव पुरुष सम्बंधी भावों को प्राप्त होता है और नपुंसक वेद के उदय से नपुंसकों के भाव को प्राप्त होता है । इस प्रकार नोकषाय की प्रकृतियों का वर्णन हुआ ।

(२६६) कषायवेदनीय मोहनीय के सोलह प्रकारों में से क्रोधसम्बन्धित चार प्रकारों का निर्देश—अब चारित्रमोहनीय का दूसरा भेद है कषायवेदनीय । इसके १६ भेद होते हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ । क्रोध रोष का नाम है । अपने या दूसरे के उपघात या अनुपकार आदिक करने के क्रूर परिणाम क्रोध कहलाते हैं । क्रोध में यह जीव अपना भी घात कर लेता है, दूसरे का भी घात करता, अपना भी बिगड़ करता, दूसरे का भी बिगड़ करता है । यह क्रोध चार प्रकार का है—अनन्तानुबंधी क्रोध जो पत्थर पर छेदी गई रेखा के समान चिरकाल तक रहता है । इस क्रोध से मिथ्यात्व का सम्बंध बना करता है । अप्रत्याख्यानावरण क्रोध—जैसे जोते गए खेत में हल की लकिर पड़ जाती है और कुछ ही महीनों में मिट जाती है ऐसे ही अप्रत्याख्यानावरण क्रोध ६ महीने से अधिक नहीं रह पाता । क्रोध तो कोई सा भी लगातार १० मिनट भी नहीं रह सकता । उसके बीच में अन्य-अन्य कषायें आती रहती हैं, पर इस क्रोध का संस्कार ६ महीने से अधिक

नहीं चलता । हाँ अनन्तानुबन्धी क्रोध का संस्कार ६ माह से अधिक की तो बात क्या, वह तो अनेक भवों तक चलता रहता है । अप्रत्याख्यानावरण क्रोध के उदय से अणुव्रत के भाव नहीं हो पाते । प्रत्याख्यानावरण क्रोध—यह धूली की रेखा के समान है । इसका कुछ ही दिन रहना कठिन होता है । इस क्रोध में महाव्रत का भाव नहीं हो पाता । संज्वलन क्रोध—यह क्रोध जल में लाठी से लकीर खींचने पर जैसे जल की लकीर तुरंत ही विलीन हो जाती है ऐसे ही यह संज्वलन क्रोध अंतर्मुहूर्त ही रहता है । इससे अधिक इसका संस्कार भी नहीं रहता । इस क्रोध में यथाख्यातचारित्र नहीं होता ।

(२६७) कषायवेदनीयमोहनीय के १६ भेदों में से मानकषाय सम्बन्धित चार प्रकारों का निर्देशन—मानकषाय—जाति, कुल आदिक के घमंड से दूसरे के प्रति नमन करने का परिणाम न होना मान कषाय है । यह मान कषाय भी चार प्रकार का है । अनन्तानुबन्धी मान—जैसे पत्थर का खम्भा अत्यन्त कठोर होता है, उसमें नमन रंच भी नहीं है, इस तरह का कठोर होना, नम्रता रंच न होना अनन्तानुबन्धी मान है । यह मान मिथ्यात्व को पुष्ट करने वाला है । अप्रत्याख्यानावरणमान—जैसे कि हड्डी पत्थर की तरह कठोर नहीं है, उसमें कुछ नमने की योग्यता है, इसी प्रकार जो अत्यन्त कठोर नहीं, किन्तु उसके बाद का कठोर हो वह अप्रत्याख्यानावरण मान है । इस कषाय के उदय से जीव अणुव्रत धारण नहीं कर सकता । प्रत्याख्यानावरणमान—जैसे लकड़ी हड्डी से अधिक नम्र रहती है फिर भी कठोरता है इसी प्रकार जिसमें कुछ नम्रता आयी हो वह प्रत्याख्यानावरण मान कषाय है । इस कषाय के उदय से महाव्रत धारण नहीं किया सकता है । संज्वलनमान—जैसे लता अत्यन्त नम्र होती है फिर भी उसमें साधारण कठोरता है । उसकी तरह जहाँ अतीव कम कठोरता हो उसे संज्वलन मान कषाय कहते हैं । संज्वलन मान कषाय के उदय से यह जीव अपने सहज शुद्ध स्वरूप को विकसित नहीं कर सकता । यथाख्यात चारित्र नहीं हो सकता ।

(२६८) कषायवेदनीयमोहनीय की मायासम्बन्धित चार प्रकारों का निर्देश—माया कषाय—छल कपट करना माया है । यह माया भी ४ प्रकार की है—(१) अनन्तानुबन्धी माया—माया का स्वरूप टेढ़ेपन से चलता है । मन में और, वचन में और, करे कुछ और, जहाँ ऐसी वक्रता है वही तो माया कषाय है । तो जो माया बाँस की जड़ की तरह है, गठीली रहे, बहुत वक्र रहे, वह अनन्तानुबन्धी माया है । इसके उदय से सम्यक्त्व प्रकट नहीं होता । अप्रत्याख्यानावरणमाया—जो माया अनन्तानुबन्धी से कम टेढ़ी हो, मेढ़े के सींग की तरह जहाँ टेढ़ापन पाया जाये उसे अप्रत्याख्यानावरण माया कहते हैं । इस कषाय के उदय में यह जीव अणुव्रत धारण नहीं कर सकता । (२) प्रत्याख्यानावरण माया—जो अप्रत्याख्यानावरण से तो कम कुटिल है, फिर भी कुटिलता पायी जाती है । जैसे बैल मूतता हुआ जा रहा है तो उसके मूत्र की जैसी कुटिल रेखायें हैं इस प्रकार का जो कुटिल भाव है वह प्रत्याख्यानावरण माया है । इसके उदय से यह जीव महाव्रत नहीं धारण कर सकता । (३) संज्वलनमाया—जिसमें अत्यंत कम कुटिलता है, लेखनी कलम के समान साधारण ही कुटिलता है वह संज्वलन माया है । इसके उदय में यह जीव यथाख्यात चारित्र नहीं पाल सकता ।

(२६९) कषायवेदनीयमोहनीय के सोलह भेद में से अन्तिम लोभ सम्बन्धित चार प्रकारों का कथन—लोभकषाय—लोभ, तृष्णा, आशा आदिक परिणाम को कहते हैं । लोभकषाय का इतना गहरा रंग है जीव पर कि यह प्रसिद्धि

हो गई कि लोभ पाप का बाप बखाना । सर्व पापों में प्रधान पाप लोभ है । जिसका संस्कार बड़ी कठिनाई से छूटता है । यह लोभ भी चार प्रकार का है—(१) अनन्तानुबंधी लोभ—धन आदिक की तीव्र आकांक्षा, अत्यंत गृद्धि, विषयों की बड़ी आसक्ति होना, जिसका संस्कार जन्म-जन्म तक रहता है वह अनन्तानुबंधी लोभ है । जैसे किरमिची रंग कपड़ा फट जाये तो भी नहीं छूटता, ऐसे ही यह लोभकषाय भव-भव में इस जीव को परेशान करती है । इस अनन्तानुबंधी लोभ के उदय में जीव का मिथ्यात्वभाव पुष्ट होता रहता है । अनन्त नाम मिथ्यात्व का है । जो मिथ्यात्व का सम्बन्ध बनाये, पोषण करे सो अनंतानुबंधी है । (२) अप्रत्याख्यानावरणलोभ—जैसे काजल का दाग किरमिची के रंग से तो हल्का है, फिर भी यह बड़े प्रयत्न से छूटता है, ऐसे ही अनन्तानुबंधी लोभ से तो गृद्धि कम है, फिर भी उतनी गृद्धि है कि जिसके कारण यह जीव अणुव्रत भी धारण नहीं कर सकता । (३) प्रत्याख्यानावरण लोभ—जैसे कीचड़ का रंग कुछ जल्दी घुल सकता है ऐसे ही जो लोभकषाय १५ दिन तक का भी संस्कार बना सके उसे प्रत्याख्यानावरण लोभ कहते हैं । इसके उदय में महाव्रत के परिणाम नहीं हो सकते हैं । (४) संज्वलन लोभ—यद्यपि संयम का विरोधी तो नहीं है । इतना कम लोभ है, फिर भी यथाख्यात चारित्र नहीं हो सकता । इसका वृष्टान्त है हल्दी का रंग । यह जल्दी से छूट जाता है । संज्वलनकषाय का संस्कार अन्तर्मुहूर्त ही रहता है । इस प्रकार चारित्रमोहनीय का जो दूसरा भेद है कषायवेदनीय उसके १६ भेद कहे गए हैं । मोहनीय की समस्त उत्तरप्रकृतियां मिलकर २८ हैं । सो यह सब मोहनीय कर्म का ही परिवार है । अब क्रम प्राप्त आयुकर्म की उत्तर प्रकृतियों को कहते हैं ।

सूत्र 8-10

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥८-१०॥

(२७०) आयुकर्म का लक्षण व आयुकर्म के भेद—नारकायु, तिर्यगायु, मानुषायु और देवायु, इस प्रकार आयु चार प्रकार की उत्तर प्रकृतिरूप हैं । नरकभव में जो होवे उसे नारक कहते हैं और नारक की आयु को नारक आयु कहते हैं । इस प्रकार शेष ३ गतियों में भी लेना । आयु का अर्थ है—जिसका सद्वाव होने पर जीवन रहे और जिसका अभाव होने पर मरण हो जाये उसे आयु कहते हैं । अर्थात् भव धारण कराये सो आयु है । यहाँ शंकाकार कहता है कि जीवन का कारण तो अन्नादिक है, फिर उसी को ही आयु समझ लेना चाहिए । अन्न आदिक का लाभ मिले तो जीवन रहता है, अन्नादिक न मिले तो मरण हो जाता है । फिर आयु का क्या अर्थ रहा? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यह संदेह यों न करना कि भवधारण का निमित्त तो आयु ही है और उस आयुकर्म का अनुग्राहक अन्नादिक है, जैसे मृत्यिण्ड से घड़ा बने, उसका अंतरंग कारण तो मृत्यिण्ड है, किन्तु उसका उपग्राहक दंड, चक्र आदिक हैं, इसी प्रकार भवधारण का अंतरंग कारण तो आयु ही है और अन्नादिक उसके उपग्राहक है । जब आयु का अभाव होता है, आयु क्षीण होने लगती है उस समय अन्नादिक कितने ही सामने रख दे तो क्या वे जीवित रख सकेंगे? उसका तो मरण ही देखा जाता है । दूसरी बात यह है कि देव और नारकियों में तो अन्नादिक नहीं हैं, न उनका सेवन है, फिर भी उनका जीवन मरण है । तो अन्नादिक को जीवनमरण का कारण नहीं कह सकते । जो सभी आयुओं में घटित हो वह बात यही समझनी

चाहिये ।

(२७१) आयु के चार उत्तरप्रकृति प्रकारों का विवरण—नरकायु के उदय से जीव का नरकों में लम्बा जीवन होता है । वहा तीव्र शीत, उष्ण की वेदना हुआ करती है । उसके निमित्त से दीर्घ जीवन होता है । तो जो नरकभव को धारण कराये उसे नरकायु कहते हैं । तिर्यक् आयु के उदय से क्षुधा, व्यास, ठंड, गर्मी, डांस, मच्छर आदिक जहाँ वेदनायें हैं ऐसे तिर्यचभव में बसना होता है । जो तिर्यच के भव को धारण कराये उसे तिर्यगायु कहते हैं । मनुष्यायु के उदय से मनुष्यभव में जन्म होता है । जहाँ शारीरिक मानसिक दुःख भी हैं, ऐसे मनुष्यों में इस आयु के उदय में जन्म होता है । देवायु के उदय से देवगति में जन्म होता है । जहाँ प्रायः साधारण मानसिक सुख ही पड़े हुए हैं । प्रायः शब्द इसलिए लगाया है कि कहीं यह न समझें कि हर समय देवों को पूरा सुख रहता है । देवों की जो देवियाँ हैं उनकी आयु बहुत कम होती है और एक देव के जीवन में लाखों करोड़ों देवियाँ गुजर सकती । उनका वियोग होता है, उससे भी उन्हें दुःख होता है । अपने से बड़ी ऋषियाँ वाले देवों की सम्पन्नता, आज्ञा आदिक जब निरखते हैं तो उससे भी उन्हें कष्ट होता है । मरण का चिन्ह उनकी ही छाती पर बनी हुई प्राकृतिक माला का मुरझा जाना है । तो जब उस माला को मुरझाया हुआ देखते हैं तो उनको मानसिक दुःख होता है । तो सर्वथा सुख ही हो देवगति में यह बात नहीं है, किन्तु प्रायः करके सुखी रहा करते हैं । ऐसा इन चार आयुवों का वर्णन किया । अब उस आयु के अनन्तर क्रम प्राप्त नामकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ बतलाते हैं ।

सूत्र 8-11

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णा-
नुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छवासविहायोगतयः प्रत्येकशरीर-

त्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेयशस्कीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥ ८-११ ॥

(२७२) नामकर्म की पिण्डरूप व अपिण्डरूप व्यालीस प्रकृतियों में से गतिनामकर्म व उसके प्रकारों का वर्णन—नामकर्म की ४२ उत्तरप्रकृतियाँ बतलाते हैं जिनमें कुछ पिण्ड प्रकृतियाँ हैं और कुछ फुटकर प्रकृतियाँ हैं । उन प्रकृतियों का इस सूत्र में निर्देश किया गया है । प्रथम है गतिनामकर्म । जिसके उदय से आत्मा अन्य भव को जाता है उसे गति कहते हैं । यद्यपि गति शब्द का अर्थ यही हुआ कि जाये सो गति, फिर भी रूढ़ि के वश से किसी गति विशेष में इसका अर्थ लगता है, और किसी गति में जाना तो मरण के बाद ही होता है एक बार, फिर तो जब तक वह आयु रहती है तब तक गति बनी रहती है । सो कहीं ऐसा न जानना कि जब आत्मा न जाता हो तो वह गति न कहलाता होगा । गति का भावार्थ है ऐसी आयु वाले भव में जन्म लेना जहाँ उसके अनुरूप भाव बनता रहे । तो गतिनामकर्म के उदय से उस-उस गति में उस-उस तरह के भाव होते हैं । यह गति नामकर्म ४ प्रकार के है—(१) नरकगति, (२) तिर्यञ्चगति, (३) मनुष्यगति, (४) देवगति । नरकगति नामकर्म के उदय से आत्मा के नरकगति जैसा भाव होता है, ऐसे ही समस्त गतियों में समझना । जैसे जिस जीव का मनुष्यगति में जन्म हुआ है तो उसका उठना, बैठना, खाना सब कुछ मनुष्यों जैसा ही चलेगा ।

तिर्यज्जगति में जन्म हुआ है तो अब तिर्यच जैसा ही चलेगा । मनुष्य घास खाना पसंद नहीं करते, तिर्यच को घास बहुत बड़े मीठे व्यञ्जन की तरह लगता । ऐसे ही अन्य व्यवहार तिर्यज्ज के तिर्यज्जों के साथ चलते हैं, मनुष्य के मनुष्यों के साथ चलते हैं ।

(२७३) **जातिनामकर्म व उसके प्रकारों का वर्णन—जातिनामकर्म** उन नारकादि गतियों में समानता से एक रूप किये गये प्राणिवर्ग को जाति कहा जाता है । जाति जिस नामकर्म के उदय से हो उसका नाम है जातिनामकर्म । जातिनामकर्म ५ प्रकार का है । एकेन्द्रिय जाति, दोइन्द्रिय जाति, तीनइन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति और पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म । जिसके उदय से आत्मा एकेन्द्रिय बने उसे एकेन्द्रिय जाति नामकर्म कहते हैं । इन्द्रियाँ ५ होती हैं—(१) स्पर्शन, (२) रसना, (३) ग्राण, (४) चक्षु और (५) कर्ण । एकेन्द्रिय जीव के केवल स्पर्शनइन्द्रिय होती है । दोइन्द्रिय जीव के स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ होती हैं । तीन इन्द्रिय जीव के स्पर्शन, रसना, ग्राण ये तीन इन्द्रिय होती हैं । चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय से जीव के स्पर्शन, रसना, ग्राण, चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं और पञ्चेन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय से पांचों ही इन्द्रियाँ होती हैं । तो इन्द्रिय की दृष्टि से इन जीवों में समानता है इसलिए इनको जाति कहते हैं । जैसे जितने एकेन्द्रिय जीव हैं वे सब स्पर्शनइन्द्रिय वाले हैं और स्पर्शनइन्द्रिय से ही उनके ज्ञानादिक चलते हैं । इस सदृशता के कारण केवल स्पर्शनइन्द्रिय वाले जीवों को एकेन्द्रिय जाति कहा जाता है । इसी प्रकार शेष सभी जातियों में समझना ।

(२७४) **शरीरनामकर्म व उसके प्रकारों का वर्णन—शरीर नामकर्म**—जिसके उदय से आत्मा के शरीर की रचना हो वह शरीर नामकर्म है । शरीर आहार वर्गणाओं के परमाणुपुञ्ज में बनता है मगर उस निर्माण में निमित्त है शरीर नामकर्म का उदय । शरीर ५ प्रकार के हैं । उन शरीरों के निमित्तकारणभूत कर्म भी ५ प्रकार के हैं । औदारिक शरीर नामकर्म—जिसके उदय से औदारिक शरीर बने । ये शरीर मनुष्य और तिर्यज्जों के हुआ करते हैं । वैक्रियक शरीर नामकर्म—जिसके उदय से वैक्रियक शरीर की रचना हो । यह शरीर देव और नारकियों के होता है । आहारक शरीरनामकर्म—जिसके उदय से आहारक शरीर की रचना होती । आहारक शरीर आहारक ऋद्धि वाले छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के होता है । तैजस शरीर नामकर्म—जिसके उदय से तैजस शरीर की रचना होती है । औदारिक आदिक शरीर में जो तेज पाया जाता है वह तैजस शरीर की ही तो झलक है । कार्माण शरीर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से कार्माण शरीर की रचना है वह कार्माण शरीर नामकर्म है । जीव के कर्म बँधते हैं, पर उन बँधे हुए कर्मों का उस कार्माण शरीर में समावेश होना वही तो कार्माण शरीर की रचना है जैसे ईंट और भींत । ईंटें पड़ी हैं, उन ईंटों को सिलसिले से लगाकर भींत बना दी तो भींत में ईंट ही तो है, जो बाहर पड़ी थीं वही एक भींत की रचना में आ गया, पर ईंट वही की वही है, इसी प्रकार जो कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बनती हैं, उस रूप परिणमती हैं वह सब कार्माण शरीर की रचना में सत्ता में रहती है, वह आकार वह कार्माण शरीर है ।

(२७५) **अङ्गोपाङ्गनामकर्म व निर्माणनामकर्म का वर्णन—अंगोपांग नामकर्म**—जिसके उदय से शरीर में अंग और उपांग की रचना हो वह अंगोपांग नामकर्म है । जिस नामकर्म के उदय से सिर, पीठ, पेट, जंघा, बाहु, नितम्ब, पैर और हाथ इन ८ अंगों की रचना होती है और इन अंगों में होने वाले छोटे अन्य अंगोपांग कहलाते

हैं, उनकी भी रचना होती है वह अंगोपांग नामकर्म कहलाता है। अंगोपांग नामकर्म तीन प्रकार का है—(१) औदारिक शरीर अंगोपांग (२) वैक्रियक शरीर अंगोपांग और (३) आहारक शरीर अंगोपांग। तैजस शरीर और कार्मण शरीर में अंगोपांग नहीं होते क्योंकि ये इन तीन शरीरों के आधार में रहते हैं और उस ही जैसा इनका आकार बनता है। निर्माणनामकर्म—जिस नामकर्म के उदय से रचना, माप और स्थान की विधि से बने उसे निर्माण नामकर्म कहते हैं। यह निर्माण नामकर्म दो प्रकार का होता है—(१) स्थान निर्माण और (२) परिमाण निर्माण। स्थान निर्माण नामकर्म के कारण तो जिस स्थानपर जो अंग रचा जाना चाहिए वैसा ही वह अंग बनता है और परिमाण निर्माण नामकर्म के उदय से जिस परिमाण में, जिस भव में जो अंग बनना चाहिए उस ही परिमाण में उस अंग की रचना होती है। अब जैसे हाथी की नाक यदि मनुष्य के नाक के बराबर ही बनी हो तो उसको तो सारी असुविधायें हुईं। हाथी के लिए तो उस परिमाण की ही नाक चाहिए। और कदाचित् मनुष्य की नाक हाथी के नाक की तरह बना दी जाये तो उसको बहुत तकलीफ होगी। तो जिस भव में जहाँ जिस परिमाण से जिस अंगोपांग की रचना होनी चाहिए उस ही परिमाण में हो वह परिमाण नामकर्म कहलाता है। यह स्थान और परिमाण निर्माण जातिनामकर्म के उदय की अपेक्षा रखता है याने जिस जाति में जैसा स्थान चाहिए, जो परिमाण चाहिए उस प्रकार की रचना होती है। निर्माण नामकर्म की व्याख्या इस प्रकार है। निर्माण शब्द में निर् तो उपसर्ग है और मा धातु है, जिसकी निरुक्ति है—निर्मायते अनेन इति निर्माणं।

(२७६) बन्धन व संघात नामकर्म का विवरण—बन्धन नामकर्म—इस नामकर्म के उदय से शरीर नामकर्मोदय को प्राप्त पुद्गल का परस्पर में प्रदेश का सम्बंध हो जाता है अर्थात् शरीर नामकर्म के उदय से तो शरीरवर्गणाओं को ग्रहण किया। ग्रहण किया हुआ वह पुद्गल एक दूसरे से सट जाये, सम्बन्धित हो जाये, यह बन्धननामकर्म के उदय से होता है। यदि बन्धन नामकर्म का अभाव हो तो शरीर के प्रदेश फिर इस तरह से इकट्ठे रहेंगे जैसे कोई लकड़ी बेचने वाला लकड़ी का गट्टा बना लेता है। उस गट्टे में लकड़ी तो सब संग्रहीत हैं, किन्तु एक का दूसरे से भिन्न-भिन्न प्रविष्ट नहीं है। फिर तो शरीर भी इसी तरह का हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं है। शरीर के स्कंध एक दूसरे से टसे हुए बंधे हुए हैं। यह बंधननामकर्म के उदय का विपाक है। यह बंधननामकर्म भी ५ प्रकार का है—(१) औदारिकशरीरबंधन नामकर्म, (२) वैक्रियकशरीरबंधन नामकर्म, (३) आहारकशरीरबंधन नामकर्म, (४) तैजसशरीरबंधन नामकर्म, (५) कार्मणशरीरबन्धन नामकर्म। अपने-अपने बन्धन नामकर्म के उदय से अपने-अपने शरीर स्कंधों का परस्पर संल्लेष्ट हो जाता है। संघात नामकर्म—इस नामकर्म के उदय से औदारिक सहित शरीर स्कंध जिन्हें अन्योन्य प्रवेश बन्धन नामकर्म से मिल रहा है उनका परस्पर ऐसा सट जाना कि भीतर में कोई छिद्र भी न रहे, इस प्रकार का एकत्व बनना संघातनामकर्म के उदय से होता है। यदि संघात नामकर्म का उदय न हो तो जैसे चने के लड्डू का जो बन्धन होता है तो उसमें परस्पर में बीच में छिद्र रह जाता है इसी तरह यदि संघात नामकर्म न हो तो शरीर के स्कंध परस्पर मिल तो जायेंगे, मगर बीच-बीच में छेद रहेंगे, किन्तु ऐसा तो नहीं है। शरीर तो बिना छिद्र के ही अच्छी तरह से गुँथा हुआ है। संघात नामकर्म ५ प्रकार का है—(१) औदारिकशरीर संघात नामकर्म, (२) वैक्रियकशरीर संघात नामकर्म, (३) आहारक शरीरसंघात नामकर्म, (४) तैजसशरीर संघात नामकर्म और (५) कार्मणशरीर संघात

नामकर्म । इनमें प्रत्येक के उदय से उन-उन शरीरों के स्कंध पूरे सिमट करके शरीर से सम्बद्ध होते हैं।

(२७७) संस्थाननामकर्म व उसके प्रकारों का वर्णन—संस्थान नामकर्म—जिस नाम कर्म के उदय से शरीर का आकार बनता है उसे संस्थान नामकर्म कहते हैं । यह ६ प्रकार का है—(१) समचतुरश्रसंस्थाननामकर्म—शरीर का आकार कितना सुडौल होना जो सर्वोक्तृष्ट सुन्दर आकार होता है—कितनी भुजायें होना, कितने पैर होना नाभि से नीचे के अंग भी उतने ही विस्तृत हैं जितने कि नाभि से ऊपर होते हैं । यह तीर्थकरों के तो पाया ही जाता है, अन्य पुरुषों के भी पाया जाता है । (२) न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान नामकर्म—जिस नामकर्म के उदय से बड़ के पेड़ की तरह आकार हो अर्थात् नाभि से नीचे के अंग छोटे हों और नाभि से ऊंचे के अंग विस्तृत हों । (३) स्वातिसंस्थान नामकर्म—इस नामकर्म के उदय से शरीर का आकार साँप की वामी की तरह होता है अर्थात् नाभि से नीचे के अंग का विस्तार अधिक होता है और नाभि से ऊपर विस्तार कम होता है । (४) कुञ्जकसंस्थान नामकर्म इस नामकर्म के उदय से शरीर कुबड़ा होता है । जैसे पीठ पर कुबड़ निकल आना इस तरह के अंग होते हैं । (५) वामन संस्थान नामकर्म—इस नामकर्म के उदय से शरीर का आकार बौना होता है । जैसे कि कहीं कहीं बौने मनुष्य पाये जाते हैं । बुद्धि बल सब बड़े लोगों जैसा होता, पर कद छोटे बच्चों जैसा छोटा होता है । (६) हुंडक संस्थान नामकर्म—इस नामकर्म के उदय से सर्व अंगोपांग अटपट हुआ करते हैं, जैसे गाय, भैंस, कीड़ा मकोड़ा आदि कितनी ही तरह के जीव पाये जाते । मनुष्यों में भी जहाँ कोई ऊपर के ५ संस्थानों में से एक भी नहीं है किन्तु किसी का चिन्ह मिल रहा, कुछ किसी का आकार है तो वह भी हुंडक संस्थान कहलाता है ।

(२७८) संहनन नामकर्म व उसके प्रकारों का वर्णन—संहनननामकर्म—जिसके उदय से हड्डियों का बन्धन विशेष होता है उसे संहनन नामकर्म कहते हैं । यह ६ प्रकार का होता है । (१) वज्रवृषभनाराचसंहनन नामकर्म—इस नामकर्म के उदय से वज्र के हाड़, वज्र के बेंठन और वज्र की कीलियाँ होती हैं । उनसे बड़ा दृढ़ रखा हुआ शरीर होता है । बेंठन कहलाता है हड्डी के ऊपर चढ़े हुए भीतरी माँसपिण्ड । ये सब वज्र के होते हैं । इस संहननधारी पुरुष का शरीर बहुत मजबूत होता है । पर्वत से भी गिर जाये यह शरीर तो भी इस शरीर के खण्ड नहीं हो पाते । श्री हनुमानजी जिनका जन्म वन में गुफा में हुआ था और अचानक उनके मामा वायु विमान से जा रहे थे, वह विमान वहाँ स्थिर हो गया तो नीचे जाकर देखा कि उसकी ही बहन अंजना के पुत्र हुआ था सो वह पुत्र सहित अंजना को अपने विमान में बैठाकर जा रहा था । अचानक ही वह बालक हनुमान खेलते हुए विमान से नीचे जा गिरा । उस समय अंजना ने भारी विकल्प किया । खैर विमान रुका, नीचे जाकर देखा तो क्या देखने में आया कि वह हनुमान बालक पत्थर की एक शिला पर गिरा था, शिला के टूक-टूक हो गए थे पर बालक हनुमान प्रसन्न मुद्रा में अपने पैर का अंगूठा चूस रहा था । उस समय हनुमान के मामा ने अंजना से बताया कि बालक हनुमान मोक्षगामी जीव है, इसी भव से मोक्ष जायेगा । यह बहुत पवित्र आत्मा है । तब उस बालक हनुमान को तीन प्रदक्षिणा देकर उठाया और अंजना बहुत प्रसन्न हुई । तो वज्रवृषभनाराचसंहनन सहित जो होता है वह जीव मोक्ष जा सकता है, और ७वें नरक में भी इस संहनन का धारी जीव उत्पन्न हो सकता है । (२) वज्रनाराचसंहनन नामकर्म—वज्र के हाथ और वज्र की कीली हो, पर बेंठन वज्रमय न हो, ऐसे

शरीर को जो रचे उसे बज्रनाराचसंहनन नामकर्म कहते हैं। (३) नाराचसंहनन नामकर्म—इस नामकर्म के उदय से कीलियाँ तो होती हैं बज्रमयी, पर अस्थि और बेंठन बज्र के नहीं होते। (४) अर्द्धनाराचसंहनन—इस नामकर्म के उदय से कीलियों से हड्डियाँ जड़ी होती हैं। जैसे एक हड्डी में दोनों तरफ कीली निकली है और दूसरी हड्डी में दोनों तरफ छिद्र हैं तो वे दोनों तरफ की कीली उन छिद्रों में टसी हुई हैं, इसी पर इस संहनन में काफी कीलियाँ होती हैं। (५) कीलकसंहनन इस संहनन से केवल कील का जैसा ही संकेत रहता है और ये दोनों ही अन्त में कीली से रचे हुए होते हैं। (६) असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन—इस नामकर्म के उदय से भीतर हड्डियों का परस्पर बंध तो नहीं होता किन्तु नशाजाल, मांस आदिक लिपटकर वे हड्डियाँ इकट्ठी रहा करती हैं। इस नामकर्म के उदय में शरीर विशिष्ट बलशाली नहीं होता। इस शरीर में कोई झटका लगे, पेड़ से गिरे या कोई एक्सीडेन्ट हो तो हड्डी भी टूट सकती है और अलग भी हो सकती है नसाजाल भी बिखर सकता है।

(२७९) **स्पर्शनामकर्म व उसके प्रकारों का वर्णन—स्पर्शनामकर्म**—जिस नामकर्म के उदय से शरीर में स्पर्श का प्रादुर्भाव हो उसे स्पर्शनामकर्म कहते हैं। यद्यपि स्पर्श सभी पुद्गल में होते हैं, शरीर भी पुद्गल है, तो पुद्गल के नाते स्पर्श होना प्राकृतिक बात है, फिर इसे नामकर्म में क्यों रखा? ऐसी आशंका हो सकती है। याने स्पर्श नामकर्म नहीं होता। वह जब शरीर पुद्गल है तो स्पर्श तो हुआ करते, फिर इन कर्मों की क्या आवश्यकता रही? इस शङ्का का समाधान यह है कि इस स्पर्श नामकर्म के उदय से प्रतिनियत शरीर में प्रतिनियत स्पर्श होता है। जैसे जितने घोड़े हैं उनका स्पर्श घोड़ों जैसा मिलेगा, मनुष्यों में उनका स्पर्श मनुष्यों जैसा मिलेगा। तो ऐसे शरीर में जो एक नियत सा स्पर्श होता है यह स्पर्श नामकर्म के उदय से है। इसके ८ भेद हैं—करकसनामकर्म—इससे शरीर कठोर मिलता है। मृदुनामकर्म—इससे शरीर में कोमलता होती है। गुरुनामकर्म—इससे शरीर में वजन होता है। लघुनामकर्म—इससे शरीर में चिकनाई होती है। स्निग्ध नामकर्म—इस नामकर्म के सभी के और भी अनेक प्रकार हैं जिससे नाना प्रकार के स्निग्ध के अंश पाये जाते हैं। रुक्षनामकर्म—जिसके उदय से शरीर में रुखापन हो। शीतनामकर्म—जिसके उदय से शरीर में ठंडापन हो, उष्णनामकर्म—जिसके उदय से शरीर में गर्मी हो।

(२८०) **रसनामकर्म व उसके प्रकारों का वर्णन—रस नामकर्म**—इसके उदय से शरीर में विभिन्न रस हुआ करते हैं। यहाँ भी वही शंका समाधान समझना कि जब शरीर पौद्गलिक है तो रस तो हुआ ही करता, फिर रस नामकर्म की क्या आवश्यकता रही? तो उत्तर यह है कि रस नामकर्म के उदय से प्रतिनियत शरीर में प्रतिनियत रस रहता है। जैसे मनुष्यों के शरीर में मनुष्यों जैसा रस मिलेगा, गाय, पशु आदिक के शरीर में उन जैसा होगा। तो शरीर पुद्गलमय है तो रस होता है पर रस नामकर्म के उदय से उसमें विशेषता बनती। जिन-जिन शरीरों में जैसा रस सम्भव है वैसा ही होगा। रस नामकर्म ५ प्रकार के हैं—तिक्तनामकर्म—जिसके उदय से शरीर में तीखा रस हो—जैसे नमक, मिर्च जैसा। अथवा पसीना आने पर पसीने का रस तीखा ही होता है। कटुक नामकर्म—जिसके उदय से शरीर में कड़वा रस हो। किसी मनुष्य के शरीर पर मच्छर कम बैठते हैं, किसी के शरीर पर अधिक, तो उसका कारण यह है कि जिनके कटुक शरीर नामकर्म का उदय है उनके कड़वा रस होता है। वह मच्छरों को इष्ट नहीं है। कषाय नामकर्म—जिसके उदय से शरीर का रस

कषायला हो । आम्लनामकर्म—जिसके उदय से शरीर का रस खट्टा हो । मधुर नामकर्म—जिसके उदय से शरीर का रस मधुर हो ।

(२८१) गन्धनामकर्म व वर्णनामकर्म तथा उनके प्रकारों का वर्णन—गंध नामकर्म—जिसके उदय से शरीर में विविध गंध उत्पन्न हों । शरीर पौद्गलिक होने से गंध तो होता, पर नामकर्म के उदय के कारण प्रतिनियत शरीर में प्रतिनियत गंध होता है । जैसे जितने घोड़े हैं उनकी गंध घोड़ों जैसी ही होती है । लोग कैसे परख जाते हैं कि यहाँ रीछ रहता है? रीछ जैसी गंध आती है । सिंह कैसे जान जाता है कि यहाँ कोई गाय, बैल मौजूद हैं? उनकी वैसी ही गंध आती है । तो जिन शरीरों में जैसी गंध है उन शरीरों में उस जाति की वैसी ही गंध होना यह गंध नामकर्म के उदय से है । वर्णनामकर्म—इस नामकर्म के उदय से प्रतिनियत शरीरों में प्रतिनियत जैसा वर्ण होता है । शरीर पौद्गलिक होने से कोई न कोई रूप तो रहता ही है, मगर नामकर्म के कारण जैसा रूप होना है वैसा ही होता है । जैसे गाय का रूप सब गायों जैसा हुआ करता है, मनुष्यों का रूप मनुष्यों जैसा हुआ करता है । किसी मनुष्य का रूप कहीं भैंस जैसा न हो जायेगा । तो इस प्रकार प्रतिनियत रूप रहा करता है । ये नामकर्म ५ प्रकार के हैं । कृष्णवर्ण नामकर्म—इसके उदय से शरीर का वर्ण काला होता है । नीलवर्ण नामकर्म—इसके उदय से शरीर का वर्ण नीला होता है । रक्तवर्ण नामकर्म—इसके उदय से शरीर का वर्ण लाल होता है । पीतनामकर्म—इसके उदय से शरीर का वर्ण हल्दी के समान पीला होता है । शुक्लवर्ण नामकर्म—इसके उदय में शरीर का वर्ण श्वेत होता है ।

(२८२) शरीररचना के निमित्तकारण का प्रकाशन—कुछ लोग मानते हैं कि इस शरीर की रचना करने वाला कोई एक विधाता है । यदि कोई एक आत्मा जगत के जीवों के शरीरों को रचता है तो वह रचने वाला क्या निमित्त कारण होकर रचता है या उपादान कारण बनकर रचता है? यदि वह ईश्वर निमित्त कारण बनकर रचता है तो इसकी मीमांसा तो फिर हो जायेगी, पर इतना तो निश्चित हो गया कि उपादानभूत पुद्गल वर्गणायें अवश्य हैं, और जिसमें शरीर रचा जाता है । तब जैसे कुम्हार ने घड़ा बनाया तो घड़ा मृत्यिण्ड से ही बना । वह सत्ता तो पहले से ही रही । और जब सत्ता पहले से है? तो उन पदार्थों में उनमें रचना बन गई । तो वास्तव में तो करने वाला दूसरा न रहा । जो पदार्थ हैं उन्हों का ही एक परिणमन हो गया । और फिर अनन्तानन्त जीव हैं । कोई एक आत्मा अनन्तानन्त जीवों का शरीर रचता रहे तो उसे अपने आपको तो व्यग्रता हो गई । और यह प्राकृतिक बात है कि जो जीव जैसी कर्म चेष्टा करता है उसको उस प्रकार के नामकर्म का बन्ध होता है और उसके उदय में उस प्रकार का शरीर प्राप्त होता है । तो ये सब जो पुद्गल हैं परिणमन हैं, शरीररूप रचनायें हैं ये कर्मादय का निमित्त पाकर स्वयं ही वर्गणावों में उस-उस प्रकार की रचना बन जाती है ।

(२८३) आनुपूर्वनामकर्म और उसके प्रकारों का वर्णन—आनुपूर्वनामकर्म—जिसके उदय से पूर्व शरीर के आकार का विनाश नहीं होता है उसको आनुपूर्वनामकर्म कहते हैं । इसके चार प्रकार हैं—(१) नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वनामकर्म (२) तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वनामकर्म (३) मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वनामकर्म और (४) देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वनामकर्म । जिनके संक्षिप्त नाम हैं—नरकगत्यानुपूर्व, तिर्यक्गत्यानुपूर्व, मनुष्यगत्यानुपूर्व

और देवगत्यानुपूर्व्य । जिस समय कोई मनुष्य अथवा तिर्यच आयु पूर्ण करके अपने पूर्व शरीर से अलग होता है और मानो वह नरकभव के प्रति अभिमुख है याने नरकगति में जा रहा है, उसके विग्रहगति में पूर्व शरीर के आकार आत्मप्रदेश रहेंगे । सो पूर्व शरीर के आकार आत्मप्रदेशों के रहने का कारण नरकगत्यानुपूर्व्य का उदय है । विग्रहगति का अर्थ है—मरण के बाद जन्मस्थान पर पहुंचने के बीच जो क्षेत्र में गमन होता है वह विग्रहगति कहलाती है । विग्रह मायने शरीर है । नवीन शरीर पाने के लिए गति होने का नाम विग्रहगति है । अथवा विग्रह मायने मोड़ा है । मोड़ सहित गति को विग्रहगति कहते हैं । तो ऐसे ही अन्य आनुपूर्वियों का भाव समझना चाहिए । यहाँ इतना विशेष समझना कि मनुष्य मरकर चारों गतियों में उत्पन्न हो सकते हैं, तिर्यच मरकर चारों गतियों में उत्पन्न हो सकते हैं, देव मरकर मनुष्य या तिर्यच इन दो गतियों में उत्पन्न हो सकते हैं, नारकी मरकर मनुष्य या तिर्यच इन दो गतियों में उत्पन्न हो सकते हैं । मरकर जीव जिस गति में जायेगा उस गति के नाम वाली आनुपूर्वी का उदय विग्रहगति में होता है । तो विग्रहगति में आकार तो पूर्व शरीर के आकार का होता है, किन्तु जीव कहलाता है जिस गति में उत्पन्न होगा उस गति का । अथवा आयु के हिसाब से वह जीव मरणकाल में ही उत्पन्न हो गया तो विग्रहगति में भी उसका जन्म कहलाता है, पर शरीर पाने के हिसाब से उस क्षेत्र पर जाकर जन्म कहलाया । और यहाँ रूढ़ि में लोकव्यवहार में मनुष्य या तिर्यचों के गर्भ से निकलकर बाहर आने को जन्म कहा करते हैं । वस्तुतः जन्म नवीन आयु का उदय होते ही कहलाने लगता है ।

(२८४) निर्माणनामकर्म के उदय से औदारिकादि शरीर में आकार तथा आनुपूर्वनामकर्म के उदय से औदारिकादिशरीररहित तैजसकार्मण शरीरस्थ आत्मा का आकार—यहाँ शंकाकार कहता है कि विग्रहगति में जीव का आकार रहता है सो आकार रहने का निमित्त कारण निर्माण काम कर्म बन जायेगा । याने विग्रहगति के आकार रचना का कार्य निर्माण नामकर्म के उदय से हो जायेगा, फिर आनुपूर्वी नामकर्म मानने की जरूरत नहीं । इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि निर्माणनामकर्म का कार्य और प्रकार है, आनुपूर्वी नामकर्म का कार्य और तरह है । पहली आयु का वियोग होने के समय ही पूर्व शरीर तो अलग हट ही गया, उसमें जीव का सम्बंध नहीं है । तो जब पूर्व शरीर हटा उस ही काल में निर्माण नामकर्म का उदय भी हट गया । अब पूर्व शरीर के हटने पर, निर्माण नामकर्म के उदय के हटने पर अब यह सूक्ष्म शरीर वाला जीव रहा, अर्थात् ८ प्रकार के कर्मपिण्ड रूप कार्मण शरीर और उस ही के साथ तैजस शरीर, इन दो शरीरों से सम्बंध रखने वाला आत्मा रहा, उस आत्मा के अब जो पूर्व शरीर के आकार जैसा आकार है उस पूर्वकार का नाश नहीं हुआ है इसके कारण आनुपूर्वी नामकर्म का उदय है । निर्माण नामकर्म का उदय शरीर रहने तक रहता है ।

(२८५) विग्रहगति में रहने के समयों का संयुक्तिक विवरण—विग्रहगति में जघन्य तो एक समय रहता है और उत्कृष्ट तीन समय रहता है । कोई जीव मरण स्थान से जन्म स्थान तक पहुंचने में एक मोड़ा लेता है तो उसका विग्रहगति में एक समय रहना होता है । यदि दो मोड़ा लिया तो दो समय और तीन मोड़ा लिया तो तीन समय तक विग्रहगति में रहना बनता है । यदि कोई जीव ऋजुगति से गमन करके जन्म लेता है अर्थात् बीच में मोड़ा नहीं लेता तो उसके पूर्व शरीर का आकार नष्ट होने पर अगले शरीर के योग्य पुद्गल वर्गणाओं का ग्रहण होने

लगा सो वहाँ निर्माण नामकर्म के उदय का व्यापार है। जीव मरकर जन्मस्थान पर पहुंचता है तो उसको मोड़ा क्यों लेना पड़ता है? इसका कारण यह है कि जीव मरण करके सीधी दिशा में गमन करता है। पूर्व से पश्चिम, पश्चिम से पूर्व, उत्तर से दक्षिण, दक्षिण से उत्तर, ऊपर से नीचे ठीक सीधा गमन करता है। अब यदि कोई पूर्व दिशा से मरकर दक्षिण दिशा को जाता है तो सीधी गति होने के कारण उसे मोड़ा नहीं लेना पड़ेगा, और यदि उसी दक्षिण दिशा में कुछ ऊपर नीचे जन्म लेता है तो एक मोड़ा लेना पड़ता है। ऐसे ही सब जगह घटा लेना चाहिए। पर लोक के किसी भी स्थान से मरण करके किसी भी स्थान पर जन्म लेवे तो तीन मोड़े से अधिक लगाने की आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु ऋजुगति में ठीक सीधा गमन कर गया नीचे से ऊपर या पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण कहाँ वह बिल्कुल सीधा गमन करता है तो वहाँ मोड़ा नहीं लेना पड़ता, इस कारण पूर्व शरीर का आकार नष्ट होते ही नवीन शरीर की वर्गणायें ग्रहण में आती हैं। वहाँ बीच में एक समय का अन्तर नहीं मिल पाता और इसी कारण ऋजुगति से जन्म लेने वाले जीव के निर्माण नामकर्म का उदय प्रथम क्षण में ही हो जाता है। वहाँ आनुपूर्वी नामकर्म का उदय नहीं है।

(२८६) अगुरुलघुनामकर्मप्रकृति का वर्णन—अगुरुलघुनामकर्म—जिस नामकर्म के उदय से न तो लोहे के पिण्ड की तरह ऐसा वजनदार शरीर होता जो यों ही नीचे गिर जाये और न आक के तूल की तरह हल्का शरीर होता जो कि ऊपर ही सहज उड़ता-उड़ता फिरे, किन्तु यथायोग्य शरीर होता है वह अगुरुलघु नामकर्म है। यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि धर्म, अधर्म, आकाश, आदिक अजीव द्रव्यों में अगुरुलघुपना कैसे होता है? तो उसका समाधान है कि अनादिपारिणामिक अगुरुलघुगुण सब द्रव्यों में पाया जाता है। उस अगुरुलघु गुण के योग से इनमें अगुरुलघुपना होता है। मुक्त जीवों के अगुरुलघुपना कैसे होता है? उत्तर—अनादिकालीन कर्म नोकर्म का संबंध जिन जीवों के है ऐसे संसारी जीवों के तो अगुरुलघुत्व कर्मोदयकृत होता है, अर्थात् कर्म का उदय होने पर यह अगुरुलघुरूप परिणमन होता है, किन्तु कर्म और नोकर्म का सम्बन्ध बिल्कुल हट जाने पर अगुरुलघु स्वाभाविक प्रकट होता है।

(२८७) उपघात परघात आतप उद्योत व उच्छ्वास नामकर्मप्रकृतियों का विवरण—उपघातनामकर्म—जिस कर्म के उदय में स्वयंकृत बंधन हो या स्वयं पर्वत से गिरने आदिक के कारण उपघात हो वह उपघात नामकर्म है। ऐसे भी अनेक मनुष्य पाये जाते हैं जो किसी स्थान पर ऊँचे पर्वत से गिरकर मर जाने में वैकुण्ठ का लाभ मानते हैं, तो यों स्वयं उपघात किया वह उपघात का ही तो विपाक है। परघात नामकर्म—जिसके उदय से दूसरे प्राणियों के द्वारा प्रयोग किए गए शस्त्रादिक से आघात होता है वह परघात नामकर्म है। इस परघात नामकर्म प्रकृति के उदय में यह जीव कवच आदिक धारण करके कितनी भी अपनी रक्षा करे तो भी दूसरे के द्वारा शस्त्रादिक से उसका घात हो जाता है। आतपनामकर्म—जिस कर्म के उदय से आतपन तपा जाता है। जैसे कि सूर्य आदिक में ताप होता है वह आताप नामकर्म है। तथा जिसके उदय से चंद्रमा जुगनू तथा अन्य पशुपक्षियों में, कीड़ों के शरीर में जो उद्योत होता है वह उद्योत नामकर्म है। यहाँ चंद्र से मतलब चंद्रविमान से है। चंद्रविमान पृथ्वीकायिक जीव का स्वरूप है। तो ऐसे उद्योतप्रकाश वाले देह के धारी पुरुषों के उद्योत नामकर्म का उदय है। उच्छ्वासनामकर्म—जिस कर्म के उदय से उच्छ्वास हो, श्वास लेवे और छोड़े उसे

उच्छ्वास नामकर्म कहते हैं। यह उच्छ्वास एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के सभी जीवों में पाया जाता है। पृथ्वी, जल, बनस्पति आदिक के भी उच्छ्वास होता है। वृक्षों का तो लोग अनुमान करने लगे हैं कि ये श्वास लेते हैं और छोड़ते हैं, पर किन्हीं का नहीं व्यक्त हो पाता। सभी प्राणियों के श्वास और उच्छ्वास होता है।

(२८८) विहायोगगति नामकर्मप्रकृति का वर्णन—विहायोगगति नामकर्म—विहायस नाम आकाश का है। उसमें गति की जो रचना का निमित्त हो उसको विहायोगगतिनामकर्म कहते हैं। यह नामकर्म शुभ और अशुभ के भेदों से दो प्रकार का है। जिनका गमन शुभ हो, रमणीक हो उनके तो प्रशस्त विहायोगगति है जैसे श्रेष्ठ बैल, हाथी, हंस आदिक। इनकी प्रशस्त गति हुआ करती है, और जिस विहायोगगति उदय से अशुभ गमन हो वह अप्रशस्त विहायोगगति नामकर्म कहलाता है। इसके उदय से ऊँट, गधा, आदिक जैसे प्राणियों में अशुभगति हुआ करती है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि सिद्ध हो रहे जीव के अथवा शुद्ध हो रहे पुद्गल के अर्थात् परमाणु के विहायोगगति किस कारण से होता है? गमन तो उनके भी होता है। अष्ट कर्मों से मुक्त होने पर जीव एक ही समय में ७ राजू गति करके सिद्ध लोक में विराजमान हो जाता है। परमाणु में भी गति एक समय में १४ राजू तक बतायी गई है। तो वह गति किस प्रकार होती है? समाधान—सिद्धभगवान में और शुद्ध परमाणु की गति स्वाभाविकी होती है। यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि विहायोगगति नामकर्म का उदय पक्षियों में ही पाया जाना चाहिये, क्यों कि आकाश में उड़ान उनका ही चलता है। मनुष्यगति में, पशु कीड़ों में विहायोगगति न होनी चाहिए क्योंकि वे तो जमीन पर चलते हैं। उत्तर—मनुष्यादिक की भी गति आकाश में होती है। भले ही वे जमीन को तजक्कर ऊपर आकाश में नहीं चले रहे, लेकिन जमीन तो एक शरीर, का आधार मात्र है, पर गमन तो आकाश में होता है। कहीं पृथ्वी के भीतर गमन नहीं हो रहा। और वैसे देखा जाये तो पृथ्वी के भीतर भी आकाश है। गमन तो आकाश में हुआ। सभी जीवों की गति आकाश में ही है क्योंकि आकाश में ही अवगाहन शक्ति पायी जाती है।

(२८९) प्रत्येकशरीरनामकर्म व साधारणशरीरनामकर्म का वर्णन—प्रत्येक शरीर नामकर्म—जिस शरीर नामकर्म के उदय से रचा गया शरीर एक ही आत्मा के उपयोग का कारण होता है वह प्रत्येक शरीर नामकर्म कहलाता है अर्थात् एक शरीर में एक ही जीव होता है। एक-एक आत्मा के प्रति होने का नाम प्रत्येक है और प्रत्येक शरीर को प्रत्येक शरीर कहते हैं—जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी, देव, नारकी आदिक जितने भी ये दृश्य प्राणी हैं वे सब प्रत्येक शरीरधारी हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक बनस्पति के भी प्रत्येक शरीर है। साधारण शरीर नामकर्म—जिस नामकर्म के उदय से बहुत आत्माओं के उपयोग का कारण रूप से साधारण शरीर मिले उसको साधारण शरीर नामकर्म कहते हैं। इस नामकर्म के उदय से जीव किस प्रकार के होते हैं सो सुनो—इस जीव के आहार आदिक चार पर्याप्ति की रचना जन्ममरण श्वासोच्छ्वास अनुग्रह उपघात सब साधारण होता है। जिस समय एक जीव के आहार आदिक की रचना है उसी समय अनन्त जीवों के आहार आदिक पर्याप्ति की रचना है। जिस क्षण में एक जीव उत्पन्न होता है उसी क्षण में अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं। इसी तरह जिस क्षण में एक जीव मरण को प्राप्त होता है उसी क्षण में अनन्त जीवों का मरण होता है। ऐसे ही जिस समय एक

जीव के श्वासोच्छ्वास का लेना छोड़ना होता है उसी समय अनन्त जीव श्वांस और उच्छ्वास के लेने छोड़ने को करते हैं। जब एक जीव आहार आदिक के द्वारा अनुगृहीत होता है तो उस ही समय अनन्त जीव उस ही आहार से अनुगृहीत होते हैं। ऐसे ही जिस क्षण में एक जीव अग्नि, विष आदिक से उपघात को प्राप्त होता है उसी समय अनन्त जीवों का उपघात होता है। ऐसे ये जीव एक शरीर में अनन्त पाये जाते हैं अर्थात् उन अनन्त, जीवों का एक शरीर है।

(२९०) त्रसनामकर्मप्रकृति, स्थावरनामकर्मप्रकृति व दुर्भगनाम प्रकृति का निर्देश—त्रस नामकर्म—जिस कर्म के उदय से दोइन्द्रिय आदिक में जन्म हो उसको त्रस नामकर्म कहते हैं। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव त्रस कहलाते हैं। स्थावर नामकर्म—जिस नामकर्म के उदय से एकेन्द्रिय में जन्म होता है, एकेन्द्रियभव मिलता है उसे स्थावर नामकर्म कहते हैं। ये एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति के भेद से ५ प्रकार के हैं—इन वनस्पतियों में दो प्रकार हैं—(१) प्रत्येक वनस्पति और (२) साधारण वनस्पति। प्रत्येक वनस्पति तो भक्ष्य वनस्पति है और साधारण वनस्पति व्रतियों द्वारा भक्ष्य नहीं मानी गई है, क्योंकि वहां एक शरीर के आश्रय अनन्त एकेन्द्रिय जीव पाये जाते हैं। सुभगनामकर्म—जिसके उदय से रूपवान हो या अरूप हो, उसके प्रति लोगों को प्रीति उत्पन्न होवे उसे सुभग नामकर्म कहते हैं। इस नामकर्म के उदय से दूसरा जीव अन्य अनेक जीवों को प्रिय लगा करता है। दुर्भगनामकर्म वह है कि रूपवान होकर भी जिसके उदय से दूसरों को प्रिय न लगे किन्तु अप्रीतिकर प्रतीत हो वह दुर्भग नामकर्म है।

(२९१) सुस्वर, दुःस्वर, शुभ, अशुभ, सूक्ष्म व वादर नाम की नामकर्म प्रकृतियों का निर्देश—जिसके उदय से सुन्दर स्वर मिले वह सुस्वर नामकर्म है, और जिसके उदय से भद्वा स्वर मिले वह दुःस्वर नामकर्म है। दुःस्वर किसके है, यह बात दूसरों को जल्दी विदित होती है। कोई खुद गाता है तो चाहे खोटा भी स्वर हो तो भी उसे प्रिय लगता है। विशेष दुःस्वर होने पर वह खुद भी ज्ञान कर लेता है कि मेरा स्वर आलाप सही नहीं है। शुभ नामकर्म—जिसके उदय से देखने या सुनने पर रमणीक प्रतीत हो, जिसके अंग सुन्दर लगें वह शुभ नामकर्म है और जिस नामकर्म के उदय से अंगादिक रमणीक न लगें वह अशुभ नामकर्म है। जिसके उदय से अन्य जीवों के अनुग्रह या उपघात के अयोग्य सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति हो वह सूक्ष्म नामकर्म है। इस नामकर्म के उदय से ऐसा सूक्ष्म शरीर मिलता है कि जिसको कोई घात नहीं सकता, छेद नहीं सकता, किन्तु वह जीव जिसको सूक्ष्म शरीर मिला है अपने ही आयु के क्षय से मरता रहता है। जिस नामकर्म के उदय से ऐसा स्थूल शरीर मिले जो दूसरे को बाधा करने वाला हो उसे वादर नामकर्म कहते हैं। इस नामकर्म के उदय से ऐसा स्थूल शरीर मिलता है कि जिसको कोई छेद-भेद नहीं सकता। भले ही कितने ही वादर अदृश्य भी होते पर रूढ़ि से कहो अथवा इस तरह की कुछ शक्ति पायी जाती है इसलिए उनके भी वादरनामकर्म का उदय जानना चाहिये।

(२९२) पर्याप्ति व अपर्याप्ति नामकर्मप्रकृतियों का वर्णन—जिसके उदय से आत्मा आहार आदिक वर्गणावों के ग्रहण से आहारादि पर्याप्तियों द्वारा अन्तर्मुहूर्त में पूर्णता को प्राप्त होता है उसे पर्याप्ति नामकर्म कहते हैं। वह ६ प्रकार का है—(१) आहारपर्याप्ति नामकर्म (२) शरीरपर्याप्तिनामकर्म (३) इन्द्रियपर्याप्ति नामकर्म (४)

प्राणापानपर्यासि नामकर्म (५) भाषापर्यासि नामकर्म और (६) मनःपर्यासि नामकर्म । यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि प्राणापान पर्यासि नामकर्म से ही वायु का निकलना, प्रवेश करना हो जाता है और वही काम उच्छ्वास नामकर्म में बताया है । श्वास का लेना और छोड़ना होता है, तो फिर इन दोनों में कोई अन्तर न रहा । समाधान—प्राणापानपर्यासि और श्वासोच्छ्वास नामकर्म में यह अन्तर है कि प्राणापानपर्यासि तो सब जीवों के होती है किन्तु वह अतीन्द्रिय है । कान और स्पर्शन से उसका अनुभव नहीं हो पाता, किन्तु उच्छ्वास कर्म के उदय से पञ्चेन्द्रिय जीवों के जो शीत, उष्ण आदिक से लम्बे श्वासोच्छ्वास निकलते हैं उनका स्रोत से भी ग्रहण होता है और स्पर्शन से भी ग्रहण होता है । अर्थात् इनके श्वास से निकली हुई हवा हाथ आदिक को मालूम पड़ जाती है और उसकी आवाज भी सुनने में आती है, किन्तु श्वासोच्छ्वास पर्यासि में वह श्वासोच्छ्वास इन्द्रिय से ज्ञात नहीं हो पाता । यही इन दोनों में अन्तर है । अपर्यासिनामकर्म—जिसके उदय से छहों पर्यासियों की पूर्णता करने को आत्मा समर्थ रहे, उसे अपर्यासिनामकर्म कहते हैं । यहाँ इतना विशेष समझना कि अपर्यास दो प्रकार के होते हैं—(१) निर्वृत्य अपर्यास तथा (२) लब्ध अपर्यास । निर्वृत्यअपर्यास—पर्यासि नामकर्म का उदय है किन्तु वह अभी पर्यासियों से पूर्ण नहीं हो सकता किन्तु नियम से पर्यासियां पूर्ण हो जायेगी, किन्तु लब्धपर्यास की अपर्यासि नामकर्म का उदय है, उनके पर्यासियां पूर्ण न तो हुई और न होंगी । अपर्यास अवस्था में ही उनका मरण हो जायेगा । आहार पर्यासि में जिन वर्गणावों से शरीर बनता है उन वर्गणावों को ग्रहण करने की शक्ति पूरी हो जाती है । शरीरपर्यासि में शरीरवर्गण की पर्यासि पूर्ण हो जाती है । इन्द्रियपर्यासि में जिन वर्गणावों से इन्द्रियां बनती हैं उन इन्द्रियों के बनने की शक्ति आ जाती है । श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन, इन पर्यासियों में भी अपनी योग्य वर्गणावों को ग्रहण करने की ओर उस कार्य के पूर्ण होने की शक्ति आ जाती है । आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास इन चार पर्यासियों में आहार वर्गणावों का ग्रहण होता है । भाषा पर्यासि में भाषा वर्गणावों का ग्रहण होता है । मनःपर्यासि में मनोवर्गण का ग्रहण होता है ।

(२९३) स्थिर, अस्थिर, आदेय, अनादेय, यशःकीर्ति व अयशःकीर्ति नामक नामकर्म की प्रकृतियों का वर्णन—स्थिरनामकर्म—स्थिर भाव के रचने वाले कर्म स्थिरनामकर्म कहलाते हैं । इनके उदय से ऐसे अंगोपांग की स्थिरता रहती है कि बड़े कठिन उपवास आदिक भी कर लिए जायें, तपश्चरण भी कर लिए जायें, फिर भी अंग और उपांगों में स्थिरता रहती है । वात, पित्त, कफ आदिक कृषित नहीं हो पाते । अस्थिरनामकर्म—इस नामकर्म के उदय से कोई थोड़ा भी उपवास आदिक करे या थोड़ा भी शीत, उष्ण आदिक का सम्बंध हो तो अंग और उपांग कृष हो जाते हैं, स्थिर नहीं हो पाते हैं । वात, पित्त कफ भी कृषित हो जाते हैं । आदेय नामकर्म—इस नामकर्म के उदय से प्रभारहित शरीर की रचना होती है । यहाँ एक शंका हो सकती है कि तैजस नाम का एक सूक्ष्म शरीर कहा गया है । उसके निमित्त से शरीर की प्रभा बन जाती है, फिर आदेय कर्म मानने की क्या आवश्यकता है? समाधान—तैजस शरीर तो सर्व संसारी जीवों के तेज का निर्माता है । यदि शरीर यह व्यक्त प्रभा तैजस शरीर नामकर्म से माना जाये तो सब संसारी जीवों के शरीर की प्रभा एक समान बन जाना चाहिए, क्योंकि तैजस शरीर तो सर्व संसारी जीवों के पाया जाता है किन्तु शरीर की व्यक्त प्रभा सब जीवों में नहीं पायी जाती । इससे सिद्ध है कि शरीर की प्रभा आदेय नामकर्म से होती है । यशकीर्ति नामकर्म—पवित्र

गुणों की प्रसिद्धि का कारणभूत जो नामकर्म है उसके उदय से पुण्यवान जीवों के पुण्य गुणों का स्थापन होता है। यश नाम है गुणों का और कीर्ति नाम है स्तवन का। गुण का स्तवन हो सके उसे कहते हैं यशकीर्ति। यहां कीर्ति का अर्थ यश नहीं है जिससे यह संदेह बने कि पुनरुक्त शब्द बोला गया। कीर्ति का अर्थ है कीर्तन होना, प्रसिद्धि होना। गुणों की प्रसिद्धि होना, गुणों की स्तुति होना यश कीर्ति है। अयशकीर्ति—जिस कर्म के उदय से अयश की प्रसिद्धि हो, पहले गुणों का स्थापन हो उसे अयशकीर्ति नामकर्म कहते हैं।

(२९४) **तीर्थकरत्वनामप्रकृति का वर्णन**—तीर्थकरत्वनामकर्म—जिसके उदय से अरहंत प्रभु सम्बंधित अचिन्त्य विभूति विशेष प्राप्त हो उसे तीर्थकरत्व नामकर्म कहते हैं। यहाँ कोई शंका करता है कि जैसे तीर्थकरत्व एक प्रकृति बतायी गई है इसी प्रकार गणधरत्व आदिक प्रकृतियाँ भी कही जाना चाहिए और उनका अर्थ यह होगा कि जिस प्रकृति के उदय से गणधर पद प्राप्त हो वह गणधरत्वप्रकृति है। समाधान—गणधरत्व आदिक प्रकृति कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जैसे तीर्थकरत्व नामकर्म कहलाता है उसी प्रकार उसके उदय से अचिन्त्य समवशरण आदिक विशेष विभूति प्राप्त होती है, पर गणधरत्व होना यह श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम के कारण होता है। इसमें नामकर्म की प्रकृति नहीं बनती। चक्रवर्ती आदिक होते हैं तो वे उच्चगोत्र आदिक विशेष के कारण होते हैं इसलिए गणधरत्व या चक्रवर्ती पना के लिए नामकर्म में कोई प्रकृति नहीं है। यहाँ शंकाकार कहता है कि जैसे उच्चगोत्र चक्रवर्ती आदिक बनने का कारण है तो वही उच्चगोत्र तीर्थकरत्व का कारण बन जाये तो तीर्थकरत्व नाम का अलग से कर्म न बनाना पड़ेगा। उत्तर—तीर्थकरत्व प्रकृति का फल है कि तीर्थ की प्रवृत्ति होती है। दिव्यध्वनि, धर्मोपदेश आदिक होना तीर्थकर नाम का फल है जिससे कि धर्मप्रवृत्ति होती है। लोगों का कल्याण होता है। उच्चगोत्र भी है पर तीर्थकर जैसा विशेष फल उच्चगोत्र का कारण होना ही पर्याप्त है। अब इस सूत्र में जो नाम के पद बनाये गए हैं सो तीन पदों में विभक्त किए गए। जब सभी नामकर्म के भेद हैं तब ३ पद बनाने की क्या जरूरत थी? सबका ही द्वन्द्व समाप्त करके एक ही पद बना दिया जाना चाहिए था। उत्तर—इसमें जो पहला पद है वह तो पिण्ड प्रकृति का और जिनके प्रतिपक्षभूत कोई प्रकृतियाँ नहीं हैं उन्हें मिलाकर किया गया है। दूसरे पद में वे प्रकृतियाँ आयी हैं जिन प्रकृतियों के प्रतिपक्षी अन्य प्रकृतियाँ हुआ करती हैं और तीर्थकर प्रकृतियाँ हुआ करती हैं। और तीर्थकर प्रकृति को सबसे अलग अकेला इस कारण कहा है कि यह पुण्य प्रकृतियों में सर्व प्रधान प्रकृति है। जितने भी शुभ कर्म हैं उन सबमें मुख्य है तीर्थकर प्रकृति। भला जिस तीर्थकर का इतना माहात्म्य कि पंचकल्याणक मनाया जाये, समवशरण की रचना हो, स्वर्गों से देव, देवियां, मनुष्य, तिर्यज्च आदिक और अधोलोक से भवनवासी व्यन्तरों के इन्द्र देवतागण सब एकत्रित होकर धर्मोपदेश सुनें, हर्ष बनाये, यह एक विशेष पुण्य प्रकृति है। जगत में जो और कोई बड़े पुण्यवान पुरुष हैं चक्रवर्ती, देवेन्द्र आदिक वे भी तीर्थकर प्रभु के चरणों में शीश झुकाया करते हैं। दूसरी बात है कि तीर्थकरप्रकृति का उदय उनके होता है जो चरम शरीरी है, जो उस ही भव से मोक्ष जायेंगे, उनका भव अंतिम भव है इस कारण भी तीर्थकरत्व प्रकृति को अलग से कहा गया है। इस प्रकार नामकर्म की प्रकृतियों का वर्णन हुआ, अब गोत्रकर्म की प्रकृतियों का वर्णन करते हैं।

सूत्र 8-12

उच्चैर्नीचेश्च ॥८- १२ ॥

(२९५) गोत्रकर्म की उत्तरप्रकृतियों का वर्णन—गोत्रकर्म दो प्रकार का है—(१) उच्च गोत्र और (३) नीच गोत्र। जिस प्रकृति के उदय से लोक पूजित कुलों में जन्म होवे, जैसे कि जिनकी महिमा प्रसिद्ध है ऐसे इक्ष्वाकुवंश, उग्रवंश, कुरुवंश, हरिवंश ऐसे उच्च कुल में जन्म होवे उसे उच्च गोत्रकर्म कहते हैं। और जिस गोत्रकर्म के उदय से निंदनीय दरिद्र, दुःखों से आकुल नीच वृत्तिवाले कुलों में जन्म हो उसे नीच गोत्रकर्म कहते हैं। गोत्र कर्म के क्या आस्रव हैं, कैसे कार्य करने से नीच गोत्र में जन्म लेता है यह सब वर्णन छठे अध्याय में किया जा चुका है। जो दूसरे के गुणों में हर्ष नहीं मानता, दूसरे के गुणों को दोष रूप में प्रकट करता अथवा उनको ढकता और अपने में गुण न भी हों तो भी संकेत से सबको प्रकट करता है, तो ऐसी क्रियाओं से नीच गोत्र का आस्रव होता है। तो ऐसी चेष्टा वाले को नीच गोत्र में जन्म लेना पड़ता है, और जो दूसरे के गुणों की प्रशंसा अपने अवगुणों की निन्दा, दूसरे के गुणों का प्रकाशन, अपने गुणों को ढाकना, ऐसी उच्च वृत्ति से चलता है वह उच्च कुल में जन्म लेता है। नारकी जीवों के सभी के नीच कुल कहलाता है। तिर्यञ्च गति में भी नीच गोत्र होता है। देवगति में सभी के उच्च गोत्र होता है। मनुष्यगति में ही कई भेद बन जाते हैं, कई उच्च कुली हैं, कोई नीच कुली हैं। तो उच्च गोत्र के उदय से उच्च कुल में जन्म होता और नीच गोत्र के उदय से नीच कुल में जन्म होता। इस प्रकार गोत्र कर्म की उत्तर प्रकृतियों का वर्णन हुआ, अब उसके बाद कहे गए अंतराय कर्म के प्रकार बतलाते हैं।

सूत्र 8-13

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ ८-१३ ॥

(२९६) अन्तरायकर्म की उत्तरप्रकृतियों का वर्णन—दान लाभ भोग उपभोग और वीर्यों का, सूत्र का अर्थ इतना ही होता है, पर अन्तराय के भेद कहे जाने से सबके भेद पूर्ण हो चुके, अब शेष रहे अन्तराय के ये भेद है इसलिए अंतराय शब्द इसमें लिया जाता है। दान का अन्तराय दानान्तराय, लाभान्तराय इस तरह इन सभी को पष्ठी विभक्ति में कह कर इसके साथ अन्तराय शब्द जोड़ा जाता है। दानान्तराय कर्म के उदय से दान देने की इच्छा करते हुए भी दे नहीं सकते हैं। लाभान्तराय नामकर्म के उदय से लाभ पाने की इच्छा करते हुए भी लाभ नहीं पाता। भोगान्तरायकर्म के उदय से भोगने की इच्छा करते हुए भी भोग नहीं भोग पाता। उपभोगान्तराय कर्म के उदय से उपभोग की इच्छा करते हुए भी उपभोग नहीं कर सकता। वीर्यान्तराय कर्म के उदय से उत्साह की इच्छा करते हुए भी सत्य पूर्ण किसी कार्य को करने का भाव रखते हुए भी उत्साह नहीं बन पाता है। ये ५ अन्तराय कर्म के नाम कहे गए। वहां शंका होती है कि भोगान्तराय और उपभोगान्तराय में तो कोई फर्क न डालना चाहिए, क्योंकि भोग और उपभोग में भी कोई विशेषता नहीं। भोग में भी सुख का अनुभवन है और उपभोग में भी सुख का अनुभवन है, इस कारण जब भोग और उपभोग में कोई भेद न रहा तो इनके

नाम में भी भेद न होना चाहिए । उत्तर—भोग और उपभोग में भेद है । भोग कहते हैं उसे जो वस्तु एक बार भोगने में आये दुबारा भोगने में न आये—जैसे स्नान किया हुआ जल, भोजनपान, पुष्पमाला आदि । वे एक बार भोगे जाने पर दुबारा भोगने में नहीं आते, या बड़े पुरुष इन्हें दुबारा नहीं भोगते । और वस्त्र, पलंग, स्त्री, हाथी, घोड़ा, बगधी, मोटर आदिक ये उपभोग की सामग्री कहलाती हैं । इन्हें अनेकों बार भोगते रहते हैं । तो जब भोग और उपभोग में अन्तर है तो इसके अन्तराय भी दो प्रकार के कहे गए हैं । यहाँ तक ८ कर्म की प्रकृतियों का वर्णन किया ।

(२९७) प्रकृतिबन्ध के वर्णन का उपसंहार व स्थितिबन्ध के वर्णन की भूमिका—ज्ञानावरण कर्म की ये सभी उत्तर प्रकृतियाँ इतनी ही नहीं किन्तु संख्यात हो सकती हैं और ज्ञानावरण नामकर्म, इस जैसे कर्मों की प्रकृतियाँ असंख्यात भी हो जाती हैं, क्योंकि ज्ञान अनेक वस्तुओं का होता है और स्पष्ट, अस्पष्ट आदिक विधियों से अनेक तरह का होता है । जितनी तरह से ज्ञान बनता है उन ज्ञानों का न होना यही तो ज्ञानावरण है । तो ज्ञानावरण भी उतने ही हो गए । यही बात नामकर्म के फल में देखी जाती है । जैसे करोड़ों मनुष्यों का चेहरा एक दूसरे से नहीं मिलता । यद्यपि नाक, आँख, कान आदि सभी मनुष्यों के करीब-करीब एक परिमाण के होते हैं, उसी स्थान पर होते हैं फिर भी उनकी बनावट में कितना भेद पाया जाता । तो उनके निमित्तभूत नामकर्म भी उतने ही हो जाते हैं । और विशेष जीवों पर दृष्टि दीजिए तो कितने ही तरह के पशुपक्षी कीट पतिंगे, कितनी ही तरह की वनस्पतियाँ हैं, कैसे-कैसे विचित्र शरीर हैं, जिस ढंग के जितने प्रकार के शरीर हैं, उनके कारणभूत निमित्त कर्म भी उतने ही हैं । यों नामकर्म में भी असंख्यात भेद बन जाते हैं । इस प्रकार बंध के जो ४ भेद कहे गए थे उनमें प्रकृति बंध का वर्णन किया गया इसके बाद स्थितिबंध का वर्णन आवेगा सो उसमें यह जिज्ञासा होती है कि यह जो स्थिति बंध है सो जिसका लक्षण पहले कहा गया ऐसे प्रकृतिबंध से जिसका कि भली प्रकार विस्तार बताया गया उससे क्या भिन्न कर्म विषयक स्थिति बंध है या उस ही प्रकृतिबंध के बारे में कोई स्थितिबंध बताया जाता है अथवा प्रकृतिबंध ही स्थितिबंध है ऐसा क्या पर्यायवाची शब्द है? इस शंका के उत्तर में इतना ही समझना चाहिए कि जो ये प्रकृतियाँ बतलायी गई हैं ज्ञानावरणादिक कर्मों की, सो वे प्रकृतियाँ यथायोग्य समय पर आत्मा से दूर होने लगती हैं । सो जब तक वे दूर नहीं होती तब तक का काल कितना हुआ करता है? सो यह काल उन ही प्रकृतियों में बताया जाता है । तो उन ही प्रकृतियों में स्थितिबंध की विवक्षा है । सो वह स्थिति किसी के उत्कृष्ट रूप से है और किसी के जघन्य रूप से । अर्थात् वे कर्म आत्मा में अधिक से अधिक रहें तो कितने समय तक और कम से कम रहें तो कितने समय तक? यों उन कर्मप्रकृतियों में उत्कृष्ट और जघन्य की स्थिति बतायी जायेगी । तो उनमें से सबसे पहले कर्म की उत्कृष्ट स्थितियाँ बतायी जायेगी । तो उसी सम्बन्ध में सबसे पहले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय, इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बताने के लिए सूत्र कहते हैं ।

सूत्र 8-14

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमाकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥८-१४॥

(२९८) ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय व अन्तरायकर्म की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन—प्रारम्भ से लेकर आगे तीन तक अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण वेदनीय तथा अन्तिम अंतराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ा कोड़ी सागर है। इस सूत्र में आदितः शब्द देने से मध्य के या अन्त के कर्म न लिए जायेंगे, किन्तु प्रारम्भ के ही तीन कर्म लिए जायेंगे जैसे कि अष्ट कर्मों के नाम वाले सूत्र में नाम दिए गए हैं। दूसरा पद दिया सूत्र में तिसृणाम्। इस शब्द से यह नियम बनता है कि शुरू के तीन ही लेना, जिनकी कि ३० कोड़ाकोड़ी, सागर उत्कृष्ट स्थिति बतायी जा रही है। उसके बाद पद है अंतरायस्य। इस कर्म का नाम अलग से यों दिया गया है कि इस कर्म की भी उन तीन कर्मों के समान उत्कृष्ट स्थिति है। तो समान स्थिति अंतराय की ही है उन तीन के बराबर इस कारण यहाँ अंतरायस्य शब्द दिया गया है। इस प्रकार पहले कहे गए तीन पदों में यहाँ चार कर्मों को ग्रहण किया गया—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय। इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ा कोड़ी सागर है। यहाँ कोड़ाकोड़ी शब्द दिया है। कहाँ दो कोटि शब्द लिखने से यह अर्थ न लगाना कि करोड़, करोड़ सागर है। वीप्सा अर्थ वाला यहाँ अर्थ न लगाना। यदि करोड़, करोड़ यह अर्थ इष्ट होता तो बहुवचन में प्रयोग न होता, किन्तु यहाँ अर्थ है तत्पुरुष समास वाला याने कोड़ाकोड़ी, जिसका भाव है कि एक करोड़ में एक करोड़ का गुण करने पर जो लब्ध होता है उसे कहते हैं कोड़ाकोड़ी। इस तरह ३० कोड़ाकोड़ी सागर की उत्कृष्ट स्थिति है।

(२९९) सागर के काल का उपमाप्रमाण से परिचय—सागर एक बहुत बड़ा प्रमाण है जो गिनती से परे है। इसको उपमा देकर ही समझाया जा सकता है और इसके लिए शास्त्रों में उपमा दी गई है कि दो हजार कोश के लम्बे, चौड़े, गहरे गड्ढे में बहुत कोमल बाल जिनको कैंची से इतने छोटे-छोटे खण्ड करके भर दिए जायें कि जिनका दूसरा हिस्सा किया जाना अशक्य हो, जिससे कि वह गड्ढा खूब ठसाठस भर जाये। अब उस गड्ढे में से १००-१०० वर्ष में एक-एक टुकड़ा निकाला जाये। सभी टुकड़े जितने वर्षों में निकल पायें उतने का नाम है अव्यवहारपल्य और उससे असंख्यातगुना होता है उद्घारपल्य और उससे भी असंख्यात गुना होता है अद्घापल्य। ऐसे १० कोड़ाकोड़ी अद्घापल्य का सागर होता है। ऐसे ३० कोड़ा-कोड़ी सागर इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति है। यहाँ आस्था यों रखना कि समय तो अनन्त काल बीतेगा। उस अनन्तकाल में यह ३० कोड़ाकोड़ी सागर कोई आश्चर्य लायक समय नहीं है, किन्तु है गिनती से परे। उस समय का अंदाज करने के लिए यह उपमा प्रमाण से बताया गया है।

(३००) आदि में तीन व अन्तिम कर्म की उत्कृष्टस्थिति का इन्द्रियजाति की अपेक्षा विवरण—उक्त चार कर्मों की यह ३० कोड़ाकोड़ी सागर स्थिति उत्कृष्ट है, जघन्य नहीं है, ऐसा स्पष्ट कहने के लिए सूत्र में परा शब्द दिया है। सो यह उत्कृष्ट स्थिति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के हुआ करती है। संसार में तो एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय आदिक अनेक जीव हैं पर उन सबकी उत्कृष्ट स्थिति इतनी नहीं होती। यह उत्कृष्ट स्थिति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव को ही है अर्थात् यह जीव ज्ञानावरण, दर्शनावरण वेदनीय और अन्तराय इन कर्मों को अधिक से अधिक स्थिति में बाँधे तो इतनी स्थिति तक का कर्म बाँध सकता है। फिर अन्य जीवों की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है इन चार कर्मों के विषय की, तो वह आगम से जानना चाहिए। आगम में बताया गया है कि एकेन्द्रिय

पर्याप्त जीवों के इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर के ७ भाग किये जा, उनमें से ३ भाग प्रमाण है। दोइन्द्रिय पर्याप्तक जीवों की उत्कृष्ट स्थिति २५ सागर प्रमाण काल के ७ भाग किए जायें उनमें तीन भाग प्रमाण है। तीन इन्द्रिय पर्याप्तक जीवों की उत्कृष्ट स्थिति ५० सागर प्रमाण काल के ७ भाग में से तीन भाग प्रमाण है। चौइन्द्रिय पर्याप्तक जीवों की उत्कृष्ट स्थिति १०० सागर के ७ भाग में से तीन भाग प्रमाण है। जो असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तक जीव है उसकी उत्कृष्ट स्थिति एक हजार सागर के ७ भागों में से तीन भाग प्रमाण है। और संज्ञीपञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तक की उत्कृष्ट स्थिति अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है अर्थात् एक कोड़ाकोड़ी सागर से कम है। एकेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवों की उत्कृष्ट स्थिति इसकी पर्याप्ति में जो उत्कृष्ट स्थिति थी उससे पल्य के असंख्यातवें भाग कम है। इस प्रकार दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, अपर्याप्त और संज्ञी अपर्याप्त जीवों की जो उत्कृष्ट स्थिति कही गई है उससे पल्य के संख्यात भाग कम है। इस प्रकार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बतायी गई है। अब वेदनीय कर्म के बाद जिसका नम्बर है ऐसे मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बतायी गई है।

सूत्र 8-15

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥८-१५॥

(३०१) मोहनीयकर्म के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का वर्णन—मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर है। यह उत्कृष्टस्थिति संज्ञीपञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों की है। उत्कृष्ट स्थिति का कारण संक्षेप परिणाम का होना है। मोहभाव आसक्तिभाव का होना है। सो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीव अतीव मोह और आसक्ति करता है उसकी इस तीव्र आसक्ति की व्यक्तता के कारण ७० कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण मोहनीयकर्म बंध जाता है। अन्य जीवों के मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति जैसी आगम लिखी है सो जानना। जैसे एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के मोहनीयकर्म का उत्कृष्ट स्थिति बंध एक सागर प्रमाण होता है, दो इन्द्रिय पर्याप्तक जीव के मोहनीयकर्म का स्थिति बंध २५ सागर प्रमाण होता है, तीनइन्द्रिय पर्याप्तक जीव अधिक से अधिक मोहनीयकर्म की स्थिति ५० सागर प्रमाण बांधते हैं, चार इन्द्रिय पर्याप्तक जीव अधिकाधिक मोहनीय कर्म को १०० सागर प्रमाण बाँधते हैं। जो पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव हैं उनके जो मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर प्रमाण बताया है उसमें एक पल्य के असंख्यातवें भाग कम की जाये तो इतनी उत्कृष्ट स्थिति एकेन्द्रिय अपर्याप्त की होती है। इसी प्रकार दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय या चौइन्द्रिय जीव के अपर्याप्तकों की उत्कृष्ट स्थिति उनके पर्याप्त में जितनी उत्कृष्ट स्थिति थी उसमें पल्य के संख्यातवें भाग कम उत्कृष्ट स्थिति होती है। असंज्ञी पर्याप्तक पञ्चेन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट स्थिति एक हजार सागर प्रमाण है और इस ही असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति पल्य के संख्यातवें भाग कम एक हजार सागर प्रमाण है। संज्ञी अपर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। यह संसारी जीव बड़े चाव से मोह करता है, पर एक क्षण के मोहभाव से कितने विकट कर्म बांधते हैं, कितनी अधिक स्थिति के कर्म बांधते हैं, वह इस प्रकरण से समझना चाहिये और यह शिक्षा लेना चाहिए कि हम विकारभाव से उपेक्षा करके अपने स्वभावभाव का ही आदर रखें। अब मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति

कह कर नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं। यद्यपि मोहनीय के बाद आयुकर्म का क्रम है फिर भी उसकी उत्कृष्ट स्थिति कोड़ा कोड़ी में नहीं है, सो इस समानता से सूत्र के लाघव करने के लिए नामकर्म और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति कह रहे हैं।

सूत्र 8-16

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥८-१६ ॥

(३०२) नामकर्म व गोत्रकर्म के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का वर्णन—नामकर्म और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर है। यह २० कोड़ाकोड़ी सागर स्थिति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के होती है अर्थात् संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीव नामकर्म व गोत्र कर्म के आस्त्रव के कारण रूप तीव्र भावों में रहे तो वह ज्यादह से ज्यादह इन कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ाकोड़ी सागर की बाँधता है। एकेन्द्रिय आदिक जीवों के नाम गोत्र की स्थिति का बंध कितना होता है यह आगम से जानना। जैसे एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव नाम और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बांधे तो एक सागर के ७ भाग में से दो भाग प्रमाण बाँधता है। दोइन्द्रिय पर्याप्तक जीव नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति २५ सागर के ७ भाग में से दो भाग प्रमाण बाँधता है। तीन इन्द्रियपर्याप्तक जीव नाम गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति ५० सागर के ७ भाग में से दो भाग प्रमाण बाँधता है, चौड़ाइन्द्रिय पर्याप्तक जीव नाम गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति १०० सागरोपम काल के ७ भाग में से दो भाग प्रमाण बाँधता है। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीव नाम और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति एक हजार सागरोपम काल के ७ भाग में से दो भाग प्रमाण बाँधता है। संज्ञीपञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तक अंतः कोड़ाकोड़ी के भीतर की स्थिति को बाँधता है। एकेन्द्रिय जीव अपर्याप्तक हो तो वह उतनी उत्कृष्ट स्थिति बांधेगा जितनी एकेन्द्रिय पर्याप्तक बाँधता था, उसमें से एक पल्य के असंख्यात भाग कम करके जो शेष रहे। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तक असंज्ञी जीवों की जो स्थिति है उसमें पल्य के संख्यातभाग कम करने पर जो शेष रहे उतनी उत्कृष्ट स्थिति बाँधती है।

(३०३) स्थितिबन्ध से बद्ध कर्मों के विपाक के प्रभाव की विधि—यहां उत्कृष्ट स्थिति बंध के संबंध के वर्णन से यह बात ज्ञात होती है कि अधिक स्थिति का कर्म बाँधने की सामर्थ्य संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त में है। हम आप जिस भव में हैं वह भव संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त का है और यहाँ कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बाँधी जा सकती है। जब कर्म अधिक स्थिति के बाँधते हैं तो उसके मायने यह नहीं है कि उस पूरी स्थिति के बाद ही यह एक समय में बद्ध पूरा कर्म उदय में आयेगा। स्थिति तो बंधी पर आबाधाकाल के बाद याने थोड़े ही समय के बाद वे कर्म उदय में आने लगते हैं, और उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण तक उदय में आते रहते हैं। सो उसमें जितने परमाणु बँधे थे उन परमाणु में विभाग हो जाता है कि आबाधाकाल के बाद इतने परमाणु उदय में आयेंगे, उसी के दूसरे समय में इतने परमाणु उदय में आयेंगे। ऐसे ही वे अंश उदय में आते रहते हैं और उनकी परम्परा फल देने की संतति उत्कृष्ट स्थिति प्रमाण तक चलती रहती है। ऐसा यह संसारचक्र है। सो अपने भाव प्रतिक्षण निर्मल उचित कर्तव्य वाले रखना चाहिये। अब आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं।

सूत्र 8-17

त्रयस्त्रिशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥८-१७॥

(३०४) आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति का निर्देश—आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर प्रमाण है । यहाँ सागरोपम लिखने से कोड़ाकोड़ी का अर्थ अलग हो जाता है, क्योंकि सागरोपम का तो प्रकरण ही है । पूर्व सूत्रों से अनुवृत्ति चली आ रही है फिर यहाँ सागरोपम देने की क्या आवश्यकता थी? तो सागरोपम शब्द का ग्रहण सिद्ध करता है कि केवल ३३ सागर ही उत्कृष्ट स्थिति है । कोड़ाकोड़ी अर्थ यहाँ न लगाना । यह ३३ सागर की उत्कृष्ट स्थिति का बंध संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त ही कर सकता है । जो मनुष्य निर्गन्ध पद धारण कर समीचीन भावलिंग में रहकर समाधिस्थ होकर आयु का क्षय करता है ऐसे जिस श्रमण ने ३३ सागर प्रमाण सर्वार्थसिद्धि के देवों में उत्पन्न होने की स्थिति बांध रखी थी सो वहाँ उत्पन्न होता है । सभी उत्पन्न नहीं होते । जिनका जैसा परिणाम है उस परिणाम के अनुसार आयु की स्थिति बाँधते हैं । और कोई मनुष्य वज्रवृषभनाराचसंहनन वाला अधिक से अधिक पापकर्म करे, बहुत खोटे संक्लेशभाव रखे तो वह ३३ सागर प्रमाण । नरकायु का बंध करता है और वह मरकर ७वें नरक में जाकर ३३ सागर प्रमाण नरकायु को भोगता है । तो आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बंध संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त ही कर सकता है । तब एकेन्द्रिय आदिक आयुकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबंध कितना करेगा वह आगम के अनुसार समझना । आगम में बताया है कि असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त का उत्कृष्ट स्थितिबंध पल्ल्य के असंख्यात भाग प्रमाण होता है और शेष चौड़ान्द्रिय आदिक की उत्कृष्ट आयु स्थितिबंध पूर्वकोटि प्रमाण होता है । अब यहाँ तक कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बतायी गई है, पर यह नहीं विदित होता कि इस कर्म की जघन्य स्थिति बँधे तो कितनी जघन्य स्थिति बँधेगी । तो कर्म का जघन्य स्थिति बताने के लिए सबसे पहले वेदनीयकर्म की स्थिति कह रहे हैं ।

सूत्र 8-18

अषरा द्वादश मूहूर्ता वेदनीयस्य ॥८-१८॥

(३०५) वेदनीयकर्म की जघन्य स्थिति बन्ध के काल व बन्धक का परिचय—वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति १२ मुहूर्त प्रमाण है । आयुकर्म को छोड़कर शेष कर्मों की जघन्य स्थिति का बँधना किसी बड़े आध्यात्मिक श्रमण संत के ही होता है । तो वेदनीय कर्म का यह जघन्य स्थिति बंध सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में होता है । श्रेणी पर समाधि में बड़े हुए श्रमण जब १० वें गुणस्थान में पहुंचते हैं तो वहाँ पर तीन कर्मों की जघन्य स्थिति बँध पाती है बाकी तो संसारी जीवों की अधिक-अधिक स्थिति ही बँधती है । वेदनीय कर्म का स्थिति बंध १० वें गुणस्थान के बाद समाप्त भी हो जायेगा । यद्यपि आस्रव चलेगा जिसे ईर्यापथास्रव कहो अथवा कहो प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध, चलेगा, पर वेदनीय कर्म में स्थितिबंध न बनेगा । इस कारण जो आखिरी ऐसे गुणस्थान हैं कि जिनके बाद में कर्मों की स्थिति बँधेगी वहाँ ही जघन्य स्थितिबंध सम्भव है । अब नामकर्म और गोत्रकर्म की

जघन्य स्थिति बताते हैं ।

सूत्र 8-19

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ ८-१९ ॥

(३०६) नामकर्म व गोत्रकर्म के जघन्य स्थितिबन्ध का परिचय—नामकर्म और गोत्र कर्म का जघन्य स्थितिबन्ध ८ मुहूर्त का है । यह जघन्य स्थितिबन्ध सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में होता है । १०वें गुणस्थान के बाद रूपक श्रेणी वाला मुनि १२वें गुणस्थान में पहुंचता है या उपशम श्रेणी का हो तो वह ११वें गुणस्थान में पहुंचेगा । लेकिन १०वें गुणस्थान से ऊपर कर्म की स्थिति नहीं बँधती । अतः जघन्य स्थिति १०वें गुणस्थान में ही सम्भव है । तो शेष बचे हुए सर्व कर्मों की स्थिति जघन्य स्थिति एक सूत्र में बतायी जा रही है ।

सूत्र 8-20

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥ ८-२० ॥

(३०७) ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयुकर्म व अन्तरायकर्म के जघन्य स्थितिबन्ध का वर्णन—अभी तक वेदनीय, नामकर्म और गोत्र नामकर्म की जघन्य स्थिति कही गई । इन तीन कर्मों को छोड़कर शेष ५ कर्म बचे । उनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है । जैसे—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्म, इनका जघन्य स्थितिबन्ध सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में होता है । स्थितिबन्ध तो १०वें गुणस्थान से ऊपर किसी कर्म का होता ही नहीं है, क्योंकि ऊपर के गुणस्थानों में ईर्यापथास्त्रव होता है । तो इन तीन कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध १० वें गुणस्थान में होता है । मोहनीयकर्म का जघन्य स्थिति बंध ९वें गुणस्थान में होता है । इसका कारण यह है कि मोहनीयकर्म की अंतिम शेष प्रकृति संज्वलन लोभ है, वह १० वें गुणस्थान के अन्त में समाप्त हो जायेगी, इस कारण १० वें गुणस्थान में इसका स्थितिबन्ध नहीं बन पाता । सो मोहनीयकर्म का जघन्य स्थिति बंध ९ वें गुणस्थान में सम्भव है । आयुकर्म अन्तर्मुहूर्त प्रमाण तिर्यच और मनुष्यों में ही बंधता है अर्थात् तिर्यचायु का जघन्य स्थिति बंध अन्तर्मुहूर्त बन जाता है, ऐसे ही मनुष्यायु का भी जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त बनता है, पर ऐसे तिर्यच और मनुष्य कर्मभूमिया ही होंगे, जिनकी संख्यात वर्ष की आयु होती है । ऐसे तिर्यच, मनुष्यों में ही यह नवीन स्थिति बंध सम्भव है । लब्ध्यपर्याप्तक जीव भी होते हैं, उनकी आयु की जघन्य स्थिति एक श्वांस में १८ भाग प्रमाण होती है । इस प्रकार कर्म की स्थिति बंध का प्रकरण समाप्त हुआ । यहाँ तक प्रकृतिबन्ध और स्थितिबन्ध का वर्णन किया । अब क्रम प्राप्त अनुभव बंध का वर्णन करते हैं, इसका दूसरा नाम अनुभाग बन्ध है ।

सूत्र 8- 21

विपाकोऽनुभवः ॥ ८-२१ ॥

(३०८) कर्मप्रकृतियों के अनुभागबन्ध का वर्णन—नाना प्रकार का जो विपाक है उसे अनुभव कहते हैं । ज्ञानावरणादिक कर्मप्रकृतियों का अनुग्रह और घात करने वाली बनाना, उनके तीव्र मंद भाव के कारण विशिष्ट

फलदान शक्ति बनना अनुभाग कहलाता है। अथवा इस कर्मप्रकृति के उदय में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप निमित्त के भेद से नाना प्रकार का फल बने उसे विपाक कहते हैं। इस ही का नाम अनुभव है। शुभ परिणाम होने से शुभ प्रकृतियों में अनुभाग विशेष पड़ता है। शुभ परिणाम यदि उत्कृष्ट हो तो सभी प्रकृतियों का अनुभाग उत्कृष्ट होता है। यदि शुभ भाव की प्रकर्षता हो तो अशुभ प्रकृतियों में अधिक अनुभाग पड़ता है। अशुभ भाव में मंदता से कम अनुभाग अशुभ प्रकृतियों से होता है। यद्यपि शुभ परिणाम होते हुए भी अशुभ प्रकृतियां भी बँधती, फिर भी विशुद्ध परिणाम होने पर अशुभ प्रकृतियों में अनुभाग कम होता है और शुभ प्रकृतियों में अधिक होता है। इसी प्रकार अशुभ परिणाम होने पर अशुभ प्रकृतियों में अनुभाग अधिक होता है और शुभ प्रकृतियों में अनुभाग कम होता है। यह अनुभाग बंध दो तरह से प्रवर्तित होता है—(१) स्वमुख से और (२) परमुख से। सभी मूल प्रकृतियाँ स्वमुख से ही फल दिया करती हैं अर्थात् ज्ञानावरणप्रकृति ज्ञान का आवरण करने रूप फल देती है। दर्शनावरण दर्शन का आवरण करने रूप फल देती है। इसी प्रकार अन्य सब मूल प्रकृतियों में जानना। यहाँ ऐसा न होगा कि कभी ज्ञानावरण कर्म दर्शनावरण आदि अन्य कर्मों के रूप से फलदान करने लगे। उत्तरप्रकृतियों में जो समान जाति वाली प्रकृतियाँ हैं उनका तो प्रायः स्वमुख से उदय होता ही है, किन्तु परमुख से भी उदय होता है। हाँ आयुकर्म दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का परमुख से कभी फल नहीं होता। कभी ऐसा न हो सकेगा कि तिर्यगआयु अन्य आयु के रूप से फल देने लगे अथवा मनुष्यायु आदिक कोई भी आयु अन्य रूप से फल देने लगे, ऐसा आयुकर्म में नहीं होता। इसी प्रकार दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीय के रूप से भल देने लगे या चारित्रमोहनीय दर्शनमोहनीय जैसा फल देने लगे यह न होगा। केवल इन प्रकृतियों को छोड़कर अन्य समान जाति वाली प्रकृतियाँ परमुख से भी उदित हो जाती हैं। अब यहाँ जिज्ञासा होती है कि पहले जिन कर्मों का बंध किया था उनका नाना प्रकार से फल मिलना, फल देने की शक्ति आना, यह अनुभव बंध है। यह तो जाना परंतु यह जानने में नहीं आता कि यह अनुभव बंध किस-किस प्रकार का होता है और कितनी संख्यावें में होता है? इसका समाधान यह है कि वह संख्यात रूप में होता है और विशेष सूक्ष्म रूप से देखें तो अनगिनते रूप में होता है। फिर भी जैसा कि उल्लेख है, जहाँ तक निमित्त मिलता है उसके अनुसार किस रूप में अनुभागबंध होता है उसका वर्णन सूत्र से करते हैं।

सूत्र 8-22

स यथानाम ॥ ८-२२ ॥

(३०९) बद्ध प्रकृतियों के विपाक के व्यक्त होने की मुद्रा—ज्ञानावरण का फल ज्ञान का अभाव करना है, दर्शनावरण का फल दर्शन की शक्ति को रोकना है, वेदनीय का फल साता असातारूप परिणाम होना है। इस प्रकार से जिस प्रकृति का विपाक बताना हो उस प्रकृति का जैसा नाम है वैसा ही अनुभाग होता है। तो यहाँ तक यह बात आयी कि जो कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणमती हैं उनमें प्रकृतिबंध, स्थिति बंध, अनुभागबंध उत्त प्रकार से होता है। अब रहा प्रदेशबंध, उसका वर्णन आगे होगा, पर संक्षेप में यह जानना कि जो भी परमाणु बंधे हैं वे ही तो प्रदेशबंध कहलाते हैं। सर्व प्रकृतियां १४८ कही गई हैं। उनमें सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति

इन दो प्रकृतियों का बंध कभी नहीं होता । फिर इनकी सत्ता कैसे होती है? तो प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तो उस प्रथमोपशम सम्यक्त्व परिणाम के बल से उसके प्रथम क्षण में ही मिथ्यात्व के खण्ड हो जाते हैं । सो सत्ता में पड़े हुए मिथ्यात्व कुछ सम्यग्मिथ्यात्वरूप बन जाते, कुछ सम्यक्प्रकृतिरूप बन जाते और कुछ मिथ्यात्व ही रह जाते । जैसे चक्की में उड्ढ, मूँग, चने आदि दले जायें तो कुछ दाने तो एकदम चूरा बन जाते, कुछ दाल बनते और कुछ साबुत दाने के दाने निकल जाते इसी तरह सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति की सत्ता बनती है । बंध १४६ का ही होता है । अब उसका वर्णन करने की दिशा में कुछ संक्षेप किया जाता है अर्थात् ५ शरीर, ५ बंधन, ५ संघात ये एक ही नाम के हैं जैसा कि नामकर्म की प्रकृतियों में बताया है । अतएव उन १५ का संक्षेप करके ५ में ले लिया । ५ बंधन और ५ संघात का अन्तर्भाव ५ शरीरों में कर लिया, इस तरह १० तो ये घट गए और स्पर्श ८, रस ५, गंध २ और वर्ण ५, इस प्रकार ये २० प्रकृतियाँ हैं । इन २० प्रकृतियों का ग्रहण सामान्य स्पर्श, रस, गंध, वर्ण में मूल ४ हो जाने से १६ प्रकृतियाँ ये घट गईं । १६ और १० यों कुल २६ प्रकृतियाँ कम गणना में लेने से १२० प्रकृतियाँ बंध योग्य होती हैं ।

(३१०) सम्यक्त्वरहित गुणस्थानों में ओघालाप से बन्ध का विवरण—बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में प्रथम गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का बंध होता है । इसका कारण यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव तीर्थकर प्रकृति, आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग इन तीन प्रकृतियों का बंध करने की योग्यता नहीं रखते, क्योंकि ये प्रकृतियाँ प्रशस्त हैं इसलिए इन तीन का बंध पहले गुणस्थान में नहीं है । हाँ आगे के गुणस्थानों में हो सकेगा, ३ कम करने से मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का बंध होता है, दूसरे गुणस्थान में तीन तो ये ही प्रकृतियाँ नहीं बंधती, इस प्रकार १६ प्रकृतियाँ न बंधने से दूसरे गुणस्थान में १०१ प्रकृतियों का बंध होता है । यहाँ यह विशेष जानना कि जो तीन प्रकृतियाँ नहीं बंध रहीं यहाँ पर वे आगे बंध सकेंगी, किन्तु १६ प्रकृतियाँ जो यहाँ नहीं बंध रहीं वे आगे भी कभी किसी गुणस्थान में न बंधेंगी, इसी कारण उन १६ प्रकृतियों की बंध व्युच्छिति पहले गुणस्थान में कही गई है अर्थात् मिथ्यात्व हुण्डक, नपुंसक, अन्तिम संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्यास, साधारण, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रियजाति, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्य, नरकायु इन १६ प्रकृतियों के बंध का नियोग प्रथम गुणस्थान में होता है याने पहले गुणस्थान में तो बंधती है, आगे न बंधेगी । तो इस प्रकार जिस गुणस्थान में जितनी प्रकृतियों की बंध व्युच्छिति कही जाये उसका अर्थ यह है कि आगे के गुणस्थानों में वे प्रकृतियाँ न बंधेंगी । यहाँ दूसरे गुणस्थान में २५ प्रकृतियों की बंध व्युच्छिति होती है । वे २५ प्रकृतियाँ ये हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, दुर्भग दुस्वर, अनादेय, ६ संस्थानों में से बीच के चार संस्थान, ६ संहननों में से बीच के ४ संहनन । अप्रशस्त विहायोगति—स्त्रीवेद, नीच गोत्र तिर्यगति, तिर्यगत्यानुपूर्वी, उद्योत, तिर्यगायु, इन २५ प्रकृतियों का बंध तीसरे गुणस्थान में नहीं है और पहले तीर्थकर आदिक तीन प्रकृतियों का भी नहीं है, और इसके अतिरिक्त इन गुणस्थानों में चूंकि किसी भी आयु का बंध नहीं होता, सो नरकायु, तिर्यगायु पहले दूसरे गुणस्थान में बंध से व्युच्छिन्न हैं सो नरकायु, तिर्यगायु तो पहले दूसरे गुणस्थान में बंध से व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों में शामिल है । शेष दो आयु मनुष्यायु और देव आयु इनका बंध नहीं होता । इस प्रकार दूसरे गुणस्थान में बंधने वाली १०१ प्रकृतियों में से २७

प्रकृतियां घट जाने से ७४ प्रकृतियों का बंध होता है। गुणस्थान गुणों के विकास से आगे बढ़ते जाते हैं। तो जितना जितना विकास होता है उतनी ही प्रकृतियों का बंध कम हो जाता है।

(३११) सम्यग्वद्धि जीवों में ओघालाप से बन्ध का विवरण—चौथे गुणस्थान में अब तीर्थकर प्रकृति बँधने लगी तथा मनुष्यायु, देवायु बंधने लगी तो तीसरे गुणस्थान में बंधने वाली ७४ प्रकृतियों में ३ बढ़ाने से ७७ प्रकृतियों का बंध होता है। ५वें गुणस्थान में १० प्रकृतियाँ जो कि चतुर्थ गुणस्थान में बंध से हट जाती हैं उनको कम करने से ६७ प्रकृतियों का बंध होता है। चौथे गुणस्थान में बन्धव्युच्छिन्न प्रकृतियाँ ये हैं—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, वज्रवृषभनाराचसंहनन, प्रथम संहनन, औदारिकशरीर, औदारिकाङ्गोपाग, मनुष्यगति व आनुपूर्वी तथा मनुष्यायु। छठे गुणस्थान में ४ प्रकृतियां और घट जाती हैं जिनकी बंधव्युच्छिति ५वें गुणस्थान में होती है। वे ४ प्रकृतियां हैं—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। इनके हटने से महाब्रत हुआ करता है। अब छठे गुणस्थान में बंध व्युच्छिति की ६ प्रकृतियाँ घटने से तथा आहारक शरीर, आहारक अङ्गोपांग बंध में बढ़ जाने से यहां ५९ प्रकृतियों का बन्ध होता है। ८वें गुणस्थान में देवायुप्रकृति का बंध नहीं होता, इसकी व्युच्छिति ७वें गुणस्थान में हो जाती है, अतः ५८ प्रकृतियों का बन्ध होता है। ८वें गुणस्थान में ३६ प्रकृतियां बंध से अलग हो जाती हैं। उन्हें घटाने से ९वें गुणस्थान में २२ प्रकृतियों का बन्ध होता है। आठवें गुणस्थान में बन्धव्युच्छिन्न ३६ प्रकृतियां ये हैं—निद्रा, प्रचला, तीर्थकर, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति, पञ्चेन्द्रिय, तैजसद्विक, आहारकद्विक, समचतुरस संस्थान, देव गति, देवगत्यानुपूर्व, वैक्रियक शरीर, वैक्रियकाङ्गोपाङ्ग, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, वादर, पर्यासि, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर व आदेय, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा। ९वें गुणस्थान में क्रमशः ५ प्रकृतियों की बंध व्युच्छिति होती हैं। पुरुषवेद, संज्वलनक्रोध, संज्वलनमान, संज्वलनमाया व संज्वलन लोभ। इनके घटाने से १०वें गुणस्थान में १७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। १०वें गुणस्थान में १६ प्रकृतियाँ बन्ध से व्युच्छिन्न हो जाती हैं, वे १६ प्रकृतियाँ हैं—५ ज्ञानावरण, ५ अन्तराय, ४ दर्शनावरण, यशकीर्ति और उच्चगोत्र। इनके हट जाने से ११वें गुणस्थान में सिर्फ एक प्रकृति का बन्ध होता है अर्थात् साता वेदनीय का बन्ध होता है। १२वें गुणस्थान में भी एक साता वेदनीय का बन्ध होता है। १३वें गुणस्थान में भी एक साता प्रकृति का बन्ध होता है। इसका बन्ध व्युच्छेद १३वें गुणस्थान में हो जाता है। अतः १४वें गुणस्थान में कोई भी प्रकृति नहीं बँधती। ये बँधी हुई प्रकृतियां अपनी स्थिति रखती हैं और अपनी स्थिति पर्यन्त जीव के साथ रहती हैं। जब उनकी स्थिति पड़ी हुई है तो वे कर्मप्रकृतियाँ आत्मा से अलग हो जाती हैं। ऐसे अलग होने का नाम उदय है और इसी को निर्जरा भी कहते हैं। उसी का वर्णन करते हैं कि स्थिति पूरी होने पर फिर इन प्रकृतियों का क्या होता है?

सूत्र 8-23

ततश्च निर्जरा ॥८-२३॥

(३१२) साधारण निर्जरा का वर्णन—पहले बँधी हुई कर्म प्रकृतियों के परित्याग का नाम निर्जरा है, जिन कर्म प्रकृतियों का बंध हुआ था वे अन्त में निकलते समय आत्मा को पीड़ा अथवा अनुग्रह देकर आत्मा से झड़

जाती है अर्थात् वे कर्मरूप नहीं रहतीं । जैसे कि जो भी भोजन किया वह भोजन अपनी स्थिति तक पेट में रहता है, पीछे निकलकर निःसार हो जाता है, मलरूप में अलग हो जाता है इसी तरह कर्मप्रकृतियां स्थिति को पूर्ण करने पर फल दे करके निःसार हो जाती हैं । वह निर्जरा दो प्रकार की कही गई—(१) विपाकजा और (२) अविपाकजा । इस संसार मोहसमुद्र में जहाँ चारों गतियों में जीव भ्रमण कर रहा है उस परिभ्रमण करने वाले जीव के शुभ और अशुभ कर्म का विपाक होने पर या उदीरणा होने पर वह फल दे करके झड़ जाये इसको कहते हैं विपाकजा निर्जरा । जैसी भी उन कर्मों में फलदान शक्ति है, सातारूप हो, असातारूप हो उसके उस प्रकार से अनुभाग किये जाने पर स्थिति के क्षय से वे सब कर्म झड़ जाते हैं । सो यह विपाकजा निर्जरा संसारी जीवों के अनादिकाल से चल रही है । इस निर्जरा से तो इस जीव ने कष्ट ही पाया, इससे इसको मुक्ति का मार्ग नहीं मिल पाता । दूसरा है अविपाकजा निर्जरा । किसी कर्मप्रकृति की स्थिति तो पूरी नहीं हो रही, परस्थिति पूरी होने से पहले ही ज्ञानबल से, पुरुषार्थ से, तपश्चरण से उस प्रकृति को ही उदीरणा में लेकर उदयावलि में प्रवेश कराकर उसका फल जब भोगा जाता है तो वह अविपाकजा निर्जरा कहलाती है । जैसे आम का फल अपनी स्थिति पर स्वयं डाल में पक जाता है किन्तु किसी आम्रफल को पकने से पहले ही गिरा दिया जाये और उसे भूसा, मसाला आदि में रखकर पका लिया जाये तो पहले ही पका दिया, इसी प्रकार कर्मप्रकृतियाँ पहले ही खिरा दी गई, इसे अविपाक निर्जरा कहते हैं ।

(३१३) प्रकृतसूत्रसम्बन्धित कुछ शब्दानुशासित तथ्यों पर प्रकाश—इस सूत्र में च शब्द दिया है जिससे दूसरी बात यह सिद्ध होती है कि निर्जरा स्थिति पूर्ण होने पर भी होती है और तपश्चरण आदिक के बल से भी होती है । यहाँ शंकाकार कहता है कि ९वें अध्याय में संवर के प्रकरण में सूत्र आयेगा निर्जरा बताने वाला । सूत्र में यह भी जोड़ दिया जाये अथवा संवर यह शब्द जोड़ दिया जाये तो एक सूत्र न बनाना पड़ेगा । इसके उत्तर में कहते हैं कि यहाँ इस सूत्र में लिखने से लाघव होता है । अगर आगे इस निर्जरा शब्द में ग्रहण करते तो वहाँ फिर से विपाकोनुभवः इतना शब्द और लिखना पड़ता । यहाँ शंकाकार का एक अभिप्राय यह है कि जैसे पुण्य और पाप को पृथक् ग्रहण नहीं किया, क्योंकि पुण्य और पाप का बंध में अन्तर्भाव कर लिया, उसी प्रकार निर्जरा का भी बंध में अन्तर्भाव कर लिया जाये अर्थात् अनुभवबंध में निर्जरा का अन्तर्भाव कर लिया जाये तो निर्जरा का फिर पृथक् ग्रहण न करना पड़ेगा । इसका समाधान यह है कि यहाँ अनुभव का अभी शङ्काकार ने अर्थ नहीं समझा । फल देने की सामर्थ्य का नाम अनुभव है, और फिर अनुभव किया गया पुद्गल का जिनमें कि शक्ति पड़ी थी, उनकी निवृत्ति हो जाना निर्जरा है । अनुभव में और निर्जरा में अर्थभेद है, इसी कारण सूत्र में ततः शब्द दिया है पंचमी अर्थ में, अर्थात् अनुभव से फिर निर्जरा होती है । यहाँ शंकाकार कहता है कि लाघव के लिए इस ही सूत्र में तपसा शब्द और डाल दिया जाये तो सूत्र बन जायेगा ततोनिर्जरा तपसा च और फिर आगे सूत्र न कहना पड़ेगा । समाधान—सूत्र दोनों जगह कहना आवश्यक है । यहाँ तो विपाक भोगने की मुख्यता से वर्णन चल रहा है । कर्म उदय में आये, स्थिति पाकर झड़े, फल देकर निकले, इसका नाम निर्जरा है । साथ ही तप से भी निर्जरा होती है, ऐसा बताने के लिए च शब्द जोड़ दिया और ९वें अध्याय के संवर के प्रकरण में जो तपसा निर्जरा च सूत्र आया है उसकी मुख्यता संवर में है । तो तप से संवर होता है और निर्जरा

भी होती है। तो संवर की प्रधानता बताने के लिए वहां भी सूत्र कहना आवश्यक है।

(३१४) नवम अध्याय के संवर प्रकरण में निर्जरासंबंधित सूत्र को पृथक् कहने के तथ्यों पर प्रकाश—यहां फिर शंका होती है कि आगे क्षमा, मार्दव आदिक दस लक्षण धर्म कहे गए हैं, उनमें तप भी आया है। उत्तम तप भी तो धर्म का अंग है और तप में ध्यान आता है सो यह उत्तम तप संवर का कारण हो गया, सो आगे खुद कहेंगे। तो तप से संवर होता है यह बात अपने आप उससे ही सिद्ध हो जायेगी। और यही जो सूत्र बनाया है सो निर्जरा का कारण बताया है कि निर्जरा सविपाक निर्जरा अविपाक निर्जरा दो प्रकार की होती है—फल देकर इझे वह भी निर्जरा है। तो वह सब बात युक्ति से ठीक हो जाती है। शंका—तब आगे ९वें अध्याय में तप को ग्रहण करना निरर्थक है। उत्तर—कहते हैं कि वहां पुनः तप को ग्रहण करके पृथक् सूत्र बनाया सो प्रधानता बताने के लिए बनाया गया। जितने संवर और निर्जरा के कारण हैं उन सब कारणों में तप प्रधान कारण है। क्षमा, मार्दव आदिक सभी कारण बताये गए। गुप्ति, समिति आदिक सभी बताये गए हैं मगर संवर के कारणों में तप की प्रधानता है और तब ही रूढ़ि में भी यही बात है कि तपश्चरण करने से मोक्ष होता है। संवर होता है, निर्जरा होती है इसी कारण इस प्रकृत सूत्र में तप का शब्द रखने से गारव हो जाता है याने शब्द अधिक बढ़ जाते हैं। जरूरत नहीं होती इसलिए इस सूत्र में तप शब्द को ग्रहण नहीं किया किन्तु च शब्द से तप को गौणरूप में लिया, क्योंकि यह अनुभाग बंध का प्रकरण है।

(३१५) घातिया कर्म की प्रकृतियों की मूल विशेषताओं का वर्णन—वे कर्मप्रकृतियां दो प्रकार की होती हैं—
 (१) घातिया कर्म, (२) अघातिया कर्म। जो आत्मा के गुणों को पूरी तरह से घात दे सो तो घातियाकर्म है और जो गुणों को तो न घाते किन्तु गुणों के घातने वाले कर्म के सहायक बनें, नोकर्म सत् बनें उन्हें अघातिया कर्म कहते हैं। घातिया कर्म ४ हैं—(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) मोहनीय और (४) अन्तराय। ज्ञानावरण आत्मा के ज्ञानगुण को घातता है। दर्शनावरण आत्मा के दर्शन गुण को घातता है। मोहनीय कर्म आत्मा के सम्यक्त्व गुण व सम्यक्चारित्र व आनन्द गुण को घातता है। अन्तरायकर्म आत्मा की दान आदिक शक्तियों का उपघात करता है। घातियाकर्म भी दो प्रकार के हैं—(१) सर्वघाती और (२) देशघाती। सर्वघाती प्रकृतियाँ उन्हें कहते हैं जिनके उदय से उस गुण का पूरा घात हो जिस गुण का आवरण करने वाला सर्वघाती है। ये सर्वघाती प्रकृतियाँ २० होती हैं—केवलज्ञानावरण—यह प्रकृति केवलज्ञान का घात करती है। निद्रानिद्रा—इस प्रकृति के उदय से दर्शनगुण का घात होता है। प्रचलाप्रचला—स्त्यानगृद्धि, निद्रा, प्रचला, केवलदर्शनावरण—इन प्रकृतियों के उदय से आत्मा के दर्शनगुण का घात होता है। १२ कषायें—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, ये १२ प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं। अनन्तानुबन्धी के उदय से सम्यक्त्व गुण का घात होता है और पूरा ही घात होता है तब ही सर्वघाती हैं याने रंच भी सम्यक्त्व प्रकट नहीं हो सकता। अप्रत्याख्यानावरण के उदय में अणुव्रत का घात होता है। रंच भी अणुव्रत नहीं हो सकता। प्रत्याख्यानावरण के उदय में महाव्रत का घात होता है अर्थात् रंच भी महाव्रत नहीं हो सकता, और दर्शनमोहनीय भी सर्वघाती प्रकृति है, इससे सम्यक्त्व गुण प्रकट नहीं होता। इस प्रकार सर्वघाती प्रकृतियाँ २० हैं—देशघाती प्रकृति इस प्रकार है। ज्ञानावरण की ४, मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण,

अवधिज्ञानावरण और मनःपर्यज्ञानावरण, इनका क्षयोपशम होता है और क्षयोपशम के समय वह ज्ञान व्यक्त होने से रह जाता है, परन्तु कुछ रहता है, क्योंकि यह सर्वघाती प्रकृति नहीं है। दर्शनावरण की तीन प्रकृतियां—चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण, इनके क्षयोपशम में कुछ ज्ञान होता है कुछ नहीं रहता। अन्तराय की ५ प्रकृतियाँ इनका क्षयोपशम होता है। कुछ दानशक्ति प्रकट है कुछ नहीं प्रकट है, कुछ लाभ शक्ति प्रकट है कुछ नहीं, इस कारण वे देशघाती संज्वलन की चार कषायें, इनके रहते हुए संयम नहीं बिगड़ता, फिर भी संयम में कमी रहती है जिससे यथाख्यातचारित्र नहीं बनता। ९ नो कषाय ये भी देशघाती प्रकृति हैं। इनके काल में भी कुछ ज्ञान रहता, कुछ नहीं रहता। ये घातियाकर्म की प्रकृतियाँ हैं।

(३१६) अघातिया कर्मों की प्रकृतियों की मूल विशेषतायें—घातिया प्रकृतियों के सिवाय शेष बची सब अघातिया कर्म की प्रकृतियाँ हैं। वहा यह विभाग जानना चाहिए कि कुछ नामकर्म की प्रकृतियाँ पुद्गल में फल देती हैं और उनको पुद्गल विपाकी प्रकृति कहते हैं। ऐसी प्रकृति शरीर नामकर्म से लेकर स्पर्श पर्यन्त तो पिण्ड प्रकृतियाँ हैं। शरीर, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श ये नामकर्म की प्रकृतियाँ पुद्गल विपाकी हैं याने इनके उदय में फल पुद्गल पर पड़ता है याने कुछ प्रभाव पुद्गल पर आता है। शरीरनामकर्म के उदय से शरीर की ही तो रचना हुई, पुद्गल में ही तो फल मिला। ऐसे ही सबका अर्थ समझिये—और उनके अतिरिक्त अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ निर्माणनामकर्म, ये सब पुद्गल विपाकी प्रकृतियाँ हैं, इनका असर पुद्गल में होता है। कर्मप्रकृतियों में क्षेत्रविपाकी प्रकृतियाँ चार हैं—(१) आनुपूर्वी वाली, क्योंकि आनुपूर्वी के उदय में विग्रहगति में पूर्ण आकार रहता है। तो मरण के बाद जन्म लेने के पहले जो विग्रहगति का क्षेत्र है उस क्षेत्र में इसका फल मिला कि पूर्व शरीर के आकार रहे। आयुकर्म भवविपाकी प्रकृति है। नरकायु के उदय में नरकभव में उत्पन्न होता, तिर्यक् आयु के उदय में तिर्यच भव में उत्पन्न होता, ऐसे ही सबकी बात जानना। चूंकि भव पर प्रभाव करने वाली हैं ये प्रकृतियाँ, इस कारण चारों आयुकर्म भवविपाकी प्रकृति हैं। कुछ प्रकृतियाँ जीवविपाकी हैं याने जीव में फल देने के कारणभूत हैं। जैसे गति, जाति इनमें उत्पन्न होने से जीव अपने आपमें ही कमजोरी महसूस करता और अपने में ही अपना अनुरूप भाव करता है। सो ये जीवविपाकी प्रकृतियाँ हैं। इस तरह अनुभाग बंध का वर्णन किया।

(३१७) सम्यक्त्वरहित गुणस्थानों में उदययोग्य प्रकृतियों का निर्देश—अनुभागबंध से बंधी हुई प्रकृतियाँ अपनी स्थिति पूर्ण करनेपर या कदाचित् पहले उदय में आने पर इसका फल मिलता है, जिसे कहते हैं कर्म उदय में आयेंगे और फल मिलेगा। सो इन १४८ प्रकृतियों का भी उदय हो सकता है, एक साथ सबका उदय नहीं होता, क्योंकि अनेक प्रकृतियाँ सप्रतिपक्ष हैं। अब उन १४८ प्रकृतियों में १० तो बंधन और संघात के गर्भित किया और २० स्पर्शादिक प्रकृतियों में ४ मूल रखकर १६ ये कम किया तो यों २६ कम हो जाने से उदय योग्य प्रकृतियों की गणना, चर्चा १२२ प्रकृतियों में की जाती है। इन १२२ उदययोग्य प्रकृतियों में इस प्रथम गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का उदय रहता है। जब मिथ्यादृष्टि कहा तो सभी प्रकार के मिथ्यादृष्टि ग्रहण कर

लेते, चाहे वे यथासंभव किसी मार्गणा के हों, प्रथम गुणस्थान में तीर्थकर आहारक शरीर, आहारक अंगोपाङ्क, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति इन ५ प्रकृतियों का उदय नहीं होता। इसके आगे उदय हो सकेगा, इसलिए इसको अनुदय में शामिल किया। और पहले गुणस्थान में ५ प्रकृतियों की उदयव्युच्छिति होती है। वे ५ प्रकृतियाँ हैं—मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्यास और साधारण। इनका अब इसके आगे के किसी भी गुणस्थान में उदय न हो सकेगा। अतएव इसका नाम है उदयव्युच्छिति। यहाँ एक बात और विशेष समझना कि प्रायः जिस गुणस्थान में जिन प्रकृतियों का बन्ध नहीं कहा गया तो मरकर वह जिस गति में न जायेगा वैसा उदय न आ पायगा, ऐसा समन्वय होता है। तो प्रथम गुणस्थान के उदययोग्य ११७ प्रकृतियों में पहले ५ अनुदय की और ५ उदयव्युच्छिति के हटने से तथा नरकगत्यानुपूर्वी का उदय न होने से ११ प्रकृतियाँ कम हो जाती हैं। इस प्रकार दूसरे गुणस्थान में १११ प्रकृतियों का उदय होता है। दूसरे गुणस्थान में ९ प्रकृतियों को उदयव्युच्छिति होती है। वे ९ प्रकृतियाँ हैं—अनन्तानुबंधी चार, एकेन्द्रिय, स्थावर, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय इनका उदय आगे के गुणस्थानों में न आयेगा। इससे सिद्ध है कि इसका उदय दूसरे गुणस्थान से रहता है। तब ही तो एकेन्द्रिय जीव के दो गुणस्थान बताये गए। भले ही पञ्चेन्द्रिय जीव दूसरे गुणस्थान में मरकर एकेन्द्रिय में जाये तो उसके अपर्यास में दूसरा गुणस्थान मिलेगा, पर मिला तो सही। यही बात दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय जीवों में अपर्यास अवस्था में इसका दूसरा गुणस्थान हो सकता है। मिश्र में दूसरे गुणस्थान में उदय वाली १११ प्रकृतियों में से ९ प्रकृतियाँ कम हो गई तब १०२ बचनी चाहिएँ, लेकिन तीसरे गुणस्थान में किसी भी आनुपूर्वी का उदय नहीं होता, क्योंकि इस गुणस्थान में मरण नहीं है, अतएव आनुपूर्वी तो तीन कम हो गए। नरकगत्यानुपूर्वी अनुदय के कारण दूसरे के गुणस्थान में भी न थी और सम्यग्मिथ्यात्व का उदय बन गया। इस प्रकार १०० प्रकृतियाँ तीसरे गुणस्थान में उदय में रहती हैं।

(३१८) प्रमत्त सम्यग्दृष्टियों में उदययोग्य प्रकृतियों का निर्देश—तीसरे गुणस्थान में उदयव्युच्छिति एक सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति की होती है तो १०० में एक कम करने से ९९ हुए और यहाँ चार आनुपूर्वी व सम्यक्प्रकृति के उदय में आने लगे, इस तरह ५ प्रकृतियाँ उदय में बढ़ जाने से १०४ प्रकृतियाँ हो जाती हैं। चौथे गुणस्थान में १७ प्रकृतियों का उदयव्युच्छेद होता है। वे १७ प्रकृतियाँ ये हैं—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, वैकियक शरीर, वैकियक अंगोपाङ्क, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु, देवायु, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, तिर्यगत्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, और अयशकीर्ति। तो चौथे गुणस्थान के उदय वाली उन १०४ प्रकृतियों में से १७ कम हो जाने से ८७ प्रकृतियों का उदय ५वें गुणस्थान में होता है। ५वें गुणस्थान में उदय व्युच्छेद ८ प्रकार का है, वह है प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, तिर्यगायु, उद्योत, नीच गोत्र, तिर्यगति। यों ५वें गुणस्थान की ८७ उदय वाली प्रकृतियों में से ८ प्रकृतियाँ घट जाने से तथा आहारक की दो उदय होने से ८१ प्रकृतियों का उदय होता है।

(३१९) प्रमादरहित गुणस्थानों में उदययोग्य प्रकृतियों का निर्देश—छठे गुणस्थान में उदयव्युच्छेद ५ प्रकृतिका है, वह है आहारकशरीर, आहारक अंगोपांग, स्त्यानगृद्धि, निद्रा निद्रा, प्रचलाप्रचला। यों ८१ में से प्रकृतियाँ घट जाने से ७६ प्रकृतियों का उदय ७वें गुणस्थान में होता है। ७वें गुणस्थान में ४ प्रकृतियों का उदयव्युच्छेद होता

है—सम्यक् प्रकृति, अन्त के तीन संहनन । सो ७६ में से चार घटाने से ८वें गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों का उदय है । ८वें गुणस्थान में उदयव्युच्छेद ६ प्रकृतियों का है । वे हैं ६ नोकषाय हास्यादिक । उनके घटने से ६६ प्रकृतियों का उदय ९वें गुणस्थान में रहता है । ९वें गुणस्थान में ६ प्रकृतियों का उदयव्युच्छेद है । नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया, ये ६ प्रकृतियां घट जाने से १०वें गुणस्थान में ६० प्रकृतियों का उदय रहा । १०वें गुणस्थान में एक संज्वलन लोभ का उदयव्युच्छेद है । उसके घटने से ११वें गुणस्थान में ५९ प्रकृतियों का उदय रहा । ११ वें गुणस्थान में दो प्रकृतियों का उदयव्युच्छेद है । वज्रवृषभनाराचसंहनन व नाराचसंहनन इनके घटने से १२वें गुणस्थान में ५७ प्रकृतियों का उदय रहा । १२वें गुणस्थान में १६ प्रकृतियों का उदयव्युच्छेद है । ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अंतराय, निद्रा और प्रचला । इन १६ के घटने से तथा तीर्थकरप्रकृति का उदय बढ़ जाने से १३वें गुणस्थान में ४२ प्रकृतियों का उदय है । १३वें गुणस्थान में ३० प्रकृतियों का उदयव्युच्छेद है । वे ३० हैं—वेदनीय की एक, पहला संहनन, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुस्वर, प्रशस्त, अप्रशस्त विहायोगति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, तैजस शरीर, तैजस अंगोपांग, संस्थान ६, वर्णादिक ४, अगुरुलघुत्व आदिक ४ और प्रत्येक । इन ३० के घटने से १४वें गुणस्थान में १२ प्रकृतियों का उदय रहा । यहाँ यह बात जाहिर होती है कि १३वें गुणस्थान में शरीरादिक की उदयव्युच्छिति हुई, तो इसके मायने हैं कि १४वें गुणस्थान में इसका उदय न होने से शरीर ही न कुछ की तरह है । अन्त में शेष १२ प्रकृतियों का भी उदय खत्म होने से ये सिद्ध भगवान बन जाते हैं । यहाँ तक प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध का वर्णन किया । अब अन्तिम प्रदेशबंध कहा जा रहा है । उसमें सर्वप्रथम इतने प्रश्न आयेंगे कि प्रदेशबंध किस कारण से होता है, कब होता है, कैसे होता है, किस प्रभाव वाला है, कहां होता है और कितने परिमाण में होता है? इन सब प्रश्नों का उत्तर देने वाले सूत्र को कहते हैं—

सूत्र 8-24

नामप्रत्ययः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशोष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥८-२४॥

(३२०) प्रदेशबन्ध का निर्देश और प्रदेशबन्धनिर्देशकप्रकृत सूत्र में 'नामप्रत्यय' पद की सार्थकता—नाम के कारण समस्त भावों में योगविशेष से सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाह में स्थित समस्त आत्मप्रदेशों में अनन्तानन्त प्रदेश हैं । इस अर्थ से यह ध्वनित होता कि जीव के साथ अनन्तानन्त कार्माणवर्गणायें कर्मरूप होकर स्थित रहती हैं । सर्वप्रथम शब्द आया है—नाम प्रत्यय । इसका अर्थ है कि सर्व कर्म प्रकृतियों के कारणभूत अर्थात् परमाणुओं का बंध होगा, उन्हीं में तो वे प्रकृतियाँ आयेंगी जिनका पहले वर्णन किया, जो यह प्रदेशबंध हुआ, वही ही प्रकृति होगी, स्थिति होगी, अनुभाग होगा । तो उन सब बन्धों का आधार उपादान तो ये कार्माणवर्गणायें हैं, यह बात प्रथम पद में भाषित की है । यहाँ शंकाकार कहता है कि नाम प्रत्यय का यह अर्थ किया जाये तो सीधा अर्थ है कि जिन प्रकृतियों का नामकरण है । उत्तर—ऐसा अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि इस अर्थ के किए जाने में केवल नामकर्म का ही ग्रहण होगा और यह आगम विरुद्ध रहेगा । इस पद में तो हेतुभाव को ग्रहण किया गया है अर्थात् जैसे कि पहले सूत्र कहा गया था—'सत्यथानाम' जैसा कि कर्मों का नाम दिया गया है उनकी तरह

की प्रकृति स्थिति आदिक बनती है, उनके आधारभूत ये कर्मपरमाणु हैं।

(३२१) **सूत्रोक्त सर्वतः पद की सार्थकता**—दूसरा पद है सर्वतः, इसका अर्थ है कि सभी भवों में यह बंध होता रहा, इसमें काल का ग्रहण बताया गया है। एक-एक जीव के अनन्त भव गुजर चुके हैं और आगामी काल में किसी के संख्यात, किसी के असंख्यात और किसी के अनन्त भव गुजरेंगे, उन सभी भवों में यह प्रदेशबंध होता रहा है। ऐसा नहीं है कि जीव पहले शुद्ध हो, पश्चात् कर्म परमाणुओं का बंधन हुआ। यदि जीव शुद्ध होता तो कर्म परमाणुओं का बंधन हो ही न सकता था, क्योंकि कर्मपरमाणुओं के बंधन का कारण तो जीव के अशुद्ध भाव है। और मान लिया गया जीव को पहले से शुद्ध तो कर्मबन्धन कैसे हो सकता? क्योंकि जब कर्मबंध पहले से होता तब उनके उदय में अशुद्धभाव बनता। सो अब अशुद्धभाव तो हो नहीं सक रहा, फिर कर्मबंध कैसे होता? इस कारण जो तथ्य है वह कहा जा रहा है कि इस जीव के सभी भवों में कर्मबंध हुआ है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्मसम्बन्ध अनादि काल से है।

(३२२) **सूत्रोक्त ‘योगविशेषात्’ पद की सार्थकता**—सूत्र में तीसरा पद योगविशेषात् अर्थात् मन, वचन, काय के योग से कर्म का आस्रव होता है योग के कारण। आत्मा के प्रदेशों में परिस्पन्द होने से आत्मस्वरूप के क्षेत्र में रहने वाली कार्माणवर्गणायें, विश्रसोपचय वाली वर्गणायें कर्मरूप परिणम जाती हैं, तो उनका कारण योगविशेष है। जहाँ योग नहीं रहता वहाँ कर्म का आस्रव नहीं होता, बंध की बात तो अलग रही। यद्यपि आस्रव और बंध एक साथ होते हैं किन्तु कोई जीव ऐसे होते हैं कि जिनके ईर्यापथास्रव होता है याने कर्म आये और गए, उनमें एक क्षण की भी स्थिति नहीं बंधती। वहाँ बंध तो नहीं कहलाया, आस्रव कहलाया फिर भी जो सक्षाय जीव की गतियाँ हैं उनमें बंध है। सो जिस समय कर्म आये वह समय भी स्थिति में शामिल हो गया, आगे भी रहेगा। तो यों आस्रव और बंध एक साथ हो गए। योगविशेष से आस्रव होता है, यही बंध का ग्रहण करता है।

(३२३) “**सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिता**” इस सूत्रोक्त पद की सार्थकता—चौथे पद में कई बातों का वर्णन है। पहली बात कही गई है कि वे कर्मपरमाणु सूक्ष्म हैं। हैं वे पुद्गल, किन्तु शरीरस्कंध की भाँति स्थूल नहीं हैं। और ऐसी सूक्ष्म कार्माणवर्गणायें हैं तब ही वे जीव के द्वारा ग्रहण करने योग्य बन पायी हैं। जीव द्वारा ग्रहण योग्य पुद्गल सूक्ष्म हो सकता है, स्थूल नहीं हो सकता। दूसरी बात यह कही गई है कि ये कर्मपुद्गल एक क्षेत्रावगाह में स्थित हैं अर्थात् जहा आत्मप्रदेश है उस ही क्षेत्र में अवगाहरूप से वे कर्म पुद्गल स्थित हैं। ऐसा नहीं है कि आत्मा के निकट आत्मा से चिपके हुए कर्मपुद्गल हों, किन्तु जितने विस्तार में आत्मा है उतने ही विस्तार में उन्हीं जगहों में ये कार्माण वर्गणायें पड़ी हुई हैं। यहाँ आत्मप्रदेशों का और कर्म पुद्गल का एक अधिकरण बताया गया है, याने व्यवहारनय से जहाँ आत्मप्रदेश हैं उन्हीं के ही साथ वहाँ ही ये कार्माण वर्गणायें हैं, अन्य क्षेत्र में नहीं हैं। तीसरी बात इस पद में स्थित शब्द देने से यह धनित हुई कि वे ठहरे हुए कर्मपुद्गल हैं जो बंध में आये हैं वे जाने वाले नहीं हैं, डोलने वाले नहीं हैं, अन्य क्रियायें उनमें नहीं हैं, केवल स्थिति क्रिया है। इस प्रकार चौथे पद में बताया गया कि वे कर्म वर्गणायें सूक्ष्म हैं, आत्मा के एक क्षेत्रावगाह में हैं और स्थित हैं।

(३२४) सूत्रोक्त पञ्चम और षष्ठपद सम्बंधित तथ्यों पर प्रकाश—पांचवें पद में कहा गया है कि वे कर्मवर्गणायें सर्व आत्मप्रदेशों में हैं। आत्मा के एक प्रदेश में या कुछ प्रदेशों में कर्मबंध नहीं है, किन्तु ऊपर नीचे अगल बगल सर्व आत्मप्रदेशों में व्याप करके ये कर्मवर्गणायें स्थित हैं। छठे पद में बताया है कि यह अनन्तानन्त प्रदेशी है। यहाँ प्रदेश शब्द का अर्थ परमाणु है, लेकिन जो कर्मवर्गणायें कर्मबन्ध रूप में होती हैं वे एक दो करोड़ अरब असंख्यात नहीं किन्तु अनन्तानन्त परमाणु एक समय में बंध को प्राप्त होते हैं। ये बंधने वाले कर्मस्कंध न तो संख्यात परमाणुओं का है और न असंख्यात परमाणुओं का है और अनन्त का भी नहीं किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओं का है। कर्मपरमाणु अभव्य राशि से अनन्त गुण हैं, सिद्धराशि के अनन्तभाग प्रमाण हैं। घनांगुल के असंख्ये भाग क्षेत्रों में अवगाही हैं। उनकी स्थितियां अनेक प्रकार की हैं। कोई एक समय कोई दो समय आदिक बढ़ बढ़कर कोई संख्यात समय कोई असंख्यात समय की स्थिति वाले हैं। इनकी स्थितियों का वर्णन पहले किया जा चुका है। इन कर्मवर्गणाओं में ५ वर्ण ५ रस, २ गंध, ४ स्पर्श अवस्थायें हैं। ये कर्मवर्गण में ८ प्रकार की कर्मप्रकृतियों के योग्य हैं अर्थात् इनमें ८ प्रकार की प्रकृतियां बन जाती हैं। इनका बंध मन, वचन, काय के योग से होता है। होता तो आत्मा के प्रदेश परिस्पंद से पर वह प्रदेशपरिस्पंद मन, वचन काय के वर्गणाओं का आलम्बन लेकर होता है उनकी बात बताने के लिए तीन योग की बात कही गई है। कर्मबन्ध के मायने क्या है? आत्मा के द्वारा वह स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रकार प्रदेश बन्ध का वर्णन किया और इसी के साथ बंध पदार्थ का भी वर्णन हो चुकता है। अब उन बँधी हुई प्रकृतियों में पुण्य प्रकृति कौन सी है, पाप प्रकृतियों में पुण्य प्रकृति कौन सी है, पाप प्रकृतियां कौन सी हैं, यह बात बताते हैं। और चूंकि पुण्य प्रकृति और पाप प्रकृति दोनों का अंतर्भाव बंध में हो जाता है, इसलिए ७ तत्त्वों में इनका वर्णन नहीं किया गया तो भी चूंकि बंध में ही ये शामिल हैं तो उन पुण्य और पापप्रकृतियों का अलग अलग नाम बतलाने के लिए सूत्र कहेंगे। उनमें सबसे पहले पुण्यप्रकृतियों की गणना वाला सूत्र कहते हैं।

सूत्र 8-25

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥८-२५॥

(३२५) पुण्यप्रकृतियों के नाम का निर्देश—सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नामकर्म, शुभगोत्र कर्म ये पुण्य प्रकृतियां कहलाती हैं। शुभ का अर्थ है, जिनका फल संसार में अच्छा माना जाता है। शुभ आयु तीन प्रकार की है—(१) तिर्यचायु (२) मनुष्यायु और (३) देवायु। यहाँ कुछ संदेह हो सकता है कि मनुष्य और देव इन दो आयु को शुभ कहना तो ठीक था, पर तिर्यचायु को शुभ क्यों कहा गया? साथ ही गतियों में तिर्यचगति को अशुभ कहा गया है। तो जब गति अशुभ हैं तो यह आयु भी अशुभ होना चाहिए। पर यह संदेह इसलिए न करना कि आयु का कार्य दूसरा है, गति का कार्य दूसरा है। आयु का कार्य है उस शरीर में जीव को रोके रखना, और गति का कार्य है कि उस भव के अनुरूप परिणामों का होना। तो कोई भी तिर्यच पशु, पक्षी, कीड़ा मकोड़ा यह नहीं चाहता कि मेरा मरण हो जायें। मरण होता हो तो बचने का भरसक उद्यम करते हैं। इससे सिद्ध है कि तिर्यच को आयु इष्ट है, किंतु तिर्यच भव में दुःख विशेष है और वे दुःख सहे नहीं जाते उन्हें

दुःख इष्ट नहीं हैं इस कारण तिर्यक् गति अशुभ प्रकृति में शामिल की गई है और तिर्यचायु शुभ प्रकृति में शामिल की गई है। शुभ नामकर्म में ३७ प्रकार की कर्मप्रकृतियां हैं। मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, पाँचों शरीर, तीनों अंगोपांग, पहला संस्थान, पहला संहनन, प्रशस्त वर्ण, प्रशस्त गंध, प्रशस्त रस प्रशस्त स्पर्श, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु परघात। उच्छ्वास, आतप, उद्घोत, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, वादर, पर्याप्ति, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण, और तीर्थकर नामकर्म। शुभगोत्र एक उच्चगोत्र ही है। सातावेदनीय का पूरा नाम अब सूत्र में दिया हुआ है। इस प्रकार ये सब ४२ प्रकृतियां पुण्य प्रकृति कहलाती हैं। अब पाप प्रकृतियां कौन सी हैं इसके लिए सूत्र कहते हैं।

सूत्र 8-26

अतोऽन्यत पापम् ॥८-२६॥

(३२६) पापप्रकृतियों के नामों का निर्देशन—पुण्यप्रकृतियों के सिवाय शेष की सब प्रकृतियां पापप्रकृतियां कहलाती हैं। ये पाप प्रकृतियाँ ८२ हैं, ज्ञानावरण की प्रकृतियाँ ५, दर्शनावरण की प्रकृतियाँ ९, मोहनीयकर्म की प्रकृतियाँ २६, अन्तराय कर्म की प्रकृतियाँ ५, ये समस्त घातिया कर्म पाप प्रकृतियां कहलाती हैं। यहां मोहनीयकर्म की २६ प्रकृतियां कही गई हैं। सो बंध की अपेक्षा वर्णन होने से २६ कही गई हैं। मोहनीय की कुल प्रकृतियां २८ होती हैं, जिनमें सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति उन दो प्रकृतियों का बंध नहीं होता। किन्तु प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम क्षण में मिथ्यात्व के टुकड़े होकर ये दो प्रकृतियां बनकर सत्ता में आ जाती हैं। इन घातिया कर्मों के अतिरिक्त अधातिया कर्मों में जो पापप्रकृतियां हैं उनके नाम ये हैं। नरकगति, तिर्यञ्चगति, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, अन्त के ५ संस्थान, अंत के ५ संहनन, अप्रशस्त वर्ण, अप्रशस्त गंध, अप्रशस्त रस, अप्रशस्त स्पर्श, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यगत्यानुपूर्वी, अपघात, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म अपर्याप्ति, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशकीर्ति ये ३४ नामकर्म की प्रकृतियां पापप्रकृतियां हैं। नामकर्म प्रकृतियों के अतिरिक्त असातावेदनीय, नरकायु, और नीचगोत्र ये भी पापप्रकृतियां हैं।

(३२७) प्रथम से सप्तम गुणस्थान तक में सत्त्वयोग्य प्रकृतियों का निर्देशन—सब प्रकृतियों का बंध होकर ये सत्ता में स्थित हो जाते हैं, सिर्फ सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति अन्य विधियों से सत्त्व में १४८ प्रकृतियां मानी गई हैं उनमें से पहले गुणस्थान में १४८ प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है। यह सब नाना जीवों की अपेक्षा कथन है। दूसरे गुणस्थान में तीर्थकर प्रकृति आहारक शरीर आहारक अंगोपांग इनका सत्त्व नहीं है। जिन जीवों के इनका सत्त्व होता है वे दूसरे गुणस्थान में आते ही नहीं हैं। इस प्रकार दूसरे गुणस्थान में ३ कम होने से १४५ प्रकृतियों का सत्त्व है। तीसरे गुणस्थान में १४७ प्रकृतियों का सत्त्व है। यहाँ तीर्थकर का सत्त्व नहीं। चौथे गुणस्थान में १४८ प्रकृतियां सत्त्व में पायी जा सकती है। ५वें गुणस्थान में १४७ की सत्ता है। एक नरकायु का सत्त्वविच्छेद चौथे गुणस्थान में हो चुकता है। छठे गुणस्थान में १४६ की सत्ता है। तिर्यचायु

का सत्त्वविच्छेद ५ वें गुणस्थान में हो जाता है। ७ वें गुणस्थान में स्वस्थान और सातिशय ऐसे दो भेद हैं, जिनमें स्वस्थान में १४६ का सत्त्व हो सकता है परन्तु सातिशय में यदि क्षपक श्रेणी पर जाने वाला जीव है तो उसके सम्यक्त्व घातक ७ प्रकृतियों का क्षय हो चुका है। इस कारण ये ७ प्रकृतियां एक देवायु, इनका सत्त्व न मिलेगा क्योंकि उसे मोक्ष जाना है। यदि वह उपशम श्रेणी पर चढ़ेगा तो उसके १४६ प्रकृतियों का सत्त्व हो सकता है।

(३२८) आठवें से चौदहवें गुणस्थान तक के सत्त्व वाली प्रकृतियों का निर्देशन—अब सप्तम गुणस्थान से ऊपर दो श्रेणियां हो गई। (१) उपशम श्रेणी और (२) क्षपकश्रेणी। उपशम श्रेणी में १४६ प्रकृतियों का सत्त्व है, पर जो कोई जीव ऐसे हैं कि जिनके क्षायिक सम्यक्त्व तो है पर उपशम श्रेणी मारी है तो उसके १३९ प्रकृतियों का सत्त्व रहेगा। क्षपक श्रेणी में ८ वें गुणस्थान वाले जीव के १३८ प्रकृतियों का सत्त्व है। इनके ३ तो आयु नहीं है और ७ सम्यक्त्व घातक प्रकृतियां नहीं हैं। ९ वें गुणस्थान के पहले भाग में १३८ प्रकृतियों का सत्त्व है। उस भाग में १६ प्रकृतियों का क्षय हो जाता है। अतः ९वें के दूसरे भाग में १२२ प्रकृतियों का सत्त्व है। १६ प्रकृतियों के नाम ये हैं—नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, स्त्यानगृष्ठि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, उद्योत आतप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म व स्थावर। इन १६ प्रकृतियों का सत्त्व विच्छेद होने से नवमें गुणस्थान के दूसरे भाग में १२२ प्रकृतियों का सत्त्व रहता है। इस दूसरे भाग में १२२ प्रकृतियों का सत्त्व रहता है। इस दूसरे भाग में ८ प्रकृतियों का क्षय हो जाता है। अतः तीसरे भाग में ११४ प्रकृतियों का सत्त्व रहता है। ये ८ प्रकृतियां अप्रत्याख्यानावरण ४ और प्रत्याख्यानावरण ४ हैं। इस तीसरे भाग में नपुंसकवेद का क्षय हो जाने से चौथे भाग में ११३ प्रकृतियों का सत्त्व है। यहां स्त्रीवेद का क्षय हो जाने से ५ वें भाग में ११२ प्रकृतियों का सत्त्व है। इस भाग में ६ नोकपायों का क्षय हो जाने से ९वें गुणस्थान के छठे भाग में १०६ प्रकृतियों का सत्त्व रहता है। इस भाग में पुरुषवेद का क्षय हो जाने से ७ वें भाग में १०५ प्रकृतियों का सत्त्व रहता है। यहां संज्वलन क्रोध का क्षय हो जाने से ८वें भाग में १०४ प्रकृतियों का सत्त्व रहता है। इस भाग में संज्वलन मान का क्षय होने से ९ वें भाग में १०३ प्रकृतियों का सत्त्व रहता है। ९वें गुणस्थान के अन्तिम भाग में संज्वलन माया का क्षय हो जाने से १०वें गुणस्थान में १०२ प्रकृतियों का सत्त्व रहता है। दसवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ का क्षय हो जाने से १२ वें गुणस्थान में १०१ प्रकृतियों का सत्त्व रहता है। यहाँ १६ प्रकृतियों का क्षय हो जाने से १३ वें गुणस्थान में ८५ प्रकृतियों का सत्त्व रहता है। ये १६ प्रकृतियाँ ये हैं—निद्रा, प्रचला, ज्ञानावरण की ५, अन्तराय की ५, दर्शनावरण की ४ याने चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण व केवलदर्शनावरण। १४वें गुणस्थान में भी ८५ प्रकृतियों का सत्त्व रहता है। यहाँ उपात्य समय में ७२ प्रकृतियों का क्षय हो जाता है वे ७२ प्रकृतियाँ ये हैं—शरीरनामकर्म से स्पर्शनामकर्म पर्यन्त ५०, स्थिरिद्विक, शुभद्विक, स्वरद्विक, देवद्विक, विहायोगतिद्विक, दुर्भग, निर्माण, अयशकीर्ति, अनादेय, प्रत्येक अपर्याति, अगुरुचतुष्क, अनुदित वेदनीय १, तथा नीच गोत्र। अयोगकेवली के अंतिम समय में १३ प्रकृतियों का सत्त्व रहता है। इनके क्षय होने पर ये प्रभु सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार बद्ध प्रकृतियों की सत्ता का कथन हुआ।

(३२९) बन्धपदार्थ का परिचयोपाय बताकर समाप्ति की अहम अध्याय की सूचना—यह बन्धपदार्थ अवधिज्ञानी मनःपर्ययज्ञानी व केवलज्ञानी आत्मा के द्वारा प्रत्यक्षगम्य है, वीतराग सर्वज्ञ आप द्वारा उपदिष्ट आगम द्वारा गम्य है व विपाकानुभव आदि साधनों से अनुमानगम्य है। इस प्रकार बन्धपदार्थ का वर्णन इस अष्टम अध्याय में समाप्त हुआ।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन २१ वां भाग समाप्त ॥